धर्मपाल समग्र लेखन

७.

भारत की लूट एवं बदनामी

धर्मपाल

अनुवाद

सरला मेहता
रामगोपालसिंह जदौन

धर्मपाल समग्र लेखन ७

भारत की लूट एवं बदनामी

लेखक

धर्मपाल

सम्पादक

इन्दुमति काटदरे

अनुवाद

सरला मेहता

रामगोपालसिंह जदौन

प्रकाशक

पुनरुत्थान ट्रस्ट,
४, वसुंधरा सोसायटी, आनन्दपार्क, कांकरिया, अहमदाबाद - ३८००२८
दूरभाष : ०७९ - २५३२२६५५

मुद्रक

साधना मुद्रणालय ट्रस्ट
सिटी मिल कम्पाउण्ड, कांकरिया मार्ग, अहमदाबाद - ३८००२२
दूरभाष : ०७९ - २५४६७७९०

मूल्य : रु. २००-००

प्रति

२,०००

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल १, वर्षप्रतिपदा, युगाब्द ५१०९
२० मार्च [illegible]

अनुक्रमणिका

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

१. भारतीय चित्त, मानस एवं काल

२. १८ वीं शताब्दीमें भारतमें विज्ञान एवं तंत्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त
Indian Science and Technology in the Eighteenth Century : Some Contemporary European Accounts

३. भारतीय परम्परामें असहयोग
Civil Disobedience in Indian Tradition

४. रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा
The Beautiful Tree : Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century

५. पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र
Panchayat Raj and Indian Polity

६. भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल
The British Origin of Cow slaughter in India

७. भारतकी लूट एवं वदनामी : १९ वीं शताब्दी की अंग्रेजों की जिहाद
Despoliation and Defaming of India :
The Early Nineteenth Century of British crusade

८. गांधी को समझें
Understanding Gandhi

९. भारत की परम्परा
Eassys in Tradition, Recovery and Freedom

१०. भारत का पुनर्बोध
Rediscovering India

मनोगत

गांधीजी के अगस्त १९४२ के 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मैं देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैंने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ में, हम दो चार मित्र, जिनमें मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे, उत्तरप्रदेश से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के लिए ही कांग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाग लेने मुम्बई गए। मैंने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का कांग्रेस सम्मेलन देखा था, परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन में हमें दर्शक के रूप में भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी, सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायंकाल का गांधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होंने प्रथम डेढ़ घण्टा हिन्दी में भाषण दिया, फिर पौन घण्टा अंग्रेजी में। सम्मेलन में ५० हजार से अधिक भीड़ थी। सभी उपस्थित लोगों से, सभी भारतवासियों से तथा विश्व के सभी देशों से गांधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अंग्रेजों के वार्तालाप में सहायक हों । हमारे जैसे अधिकांश लोगों ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई में हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलागाड़ियां दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अंग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगों की गिरफ्तारी करती रही। अन्तत: ९ अगस्त को शाम तक हमें दिल्ली जाने के लिए गाड़ी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारियां हो रही थीं। हममें से अधिकांश लोग अपनी अपनी जगह पहुँचकर 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुँचकर मैं अन्य साथियों के साथ आसपास के क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलन में जुड़ गया। कितने महीने तक इसी में ही संलग्न रहा। उस बीच अनेक गाँवों और कसबों में भी गया। वहाँ लोगों के घरों में रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ में अनेक घनिष्ठ मित्रों ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ में मैं मुम्बई गया और वहाँ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई में गांधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगों से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत: मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई में ही मैं श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मैं खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ में मैं मुंबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ में दिल्ली के चाँदनीचौक पुलिस थाने में मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानों में रहा। वहाँ मेरी गहन पूछताछ हुई, धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ में मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गाँव में जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होंने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमंत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहाँ रहनेवालों से कसकर परिश्रम कराने की जगह थी। गाँव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहाँ नहीं होता था। वहाँ गाँव के लोगों से मिलने, बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैंने देखी कि वहाँ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ में यह फार्म छोड़ कर मैं वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रों ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूड़की के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रों के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ में मैं मीराबहन के पास गया। रूड़की से हरिद्वार की दिशा में सात-आठ मील दूर गाँव वालों ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया 'किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार, रहन सहन तथा उपाय ढूंढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मैं तीन वर्ष किसान आश्रम में रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमें सहयोग देने के लिए मैं दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगों के साथ परिचय हुआ। उसमें मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ. राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप, श्री सीताराम गोयल, श्री रामकृष्ण चाँदीवाले (उनके घर में मैं महीनों रहा), श्री नरेन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णा दत्त, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री रूपनारायण, श्री एस. के. सक्सेना, श्री ब्रजमोहन तूफ़ान, श्री अमरेश सेन, श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली में भारतीय सेना के कुछ अधिकारियों ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इज़रायल नामक छोटा देश बना रहे हैं। वहाँ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे हैं। उन लोगों ने इतने आकर्षक ढंग से उसका वर्णन किया कि मैंने इज़रायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ में इज़रायल जाने के लिए मैं इंग्लैण्ड गया। वहाँ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर में मैं पत्नी फ़िलिस के साथ इज़रायल तथा अन्य अनेक देशों में गया। इज़रायल के लोगों ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशंसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओं में उस का बहुत उपयोग नहीं है, ऐसा भी लगा।

ज़नवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन, मीराबहन के 'पशुलोक' में पहुँच गये। वहाँ मीराबहनने, मेरे अन्य मित्रों, और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गाँव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया 'बापूग्राम'। गाँव ५० घरों का था। उसमें सभी पहाड़ी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेंगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हों। परंतु उस के कारण गाँव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गाँव के लोगों के कष्ट ब़ढ़े। गाँव में ५०० एकड़ जमीन थी, किन्तु अनेक जंगली जानवर भी वहाँ घूमते थे। हाथी भी वहाँ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ में खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती में कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गाँव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गाँव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढ़ा। मैं विभिन्न पंचायतों का अध्ययन करता था। इसलिए गाँव के लोगों की समझदारी और अपने प्रश्नों की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभाँति ध्यान में आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकांश शहरी और समृद्ध लोग गाँव को जानते ही नहीं। राजस्थान, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि राज्यों में तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मैं १९६४-६५ में सन् १९०० के आसपास के अंग्रेजों

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों के अध्ययन की ओर मुड़ा।

लगभग १७५० से १८५० तक अंग्रेजों ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इंग्लैण्ड में रहने वाले अपने अधिकारियों तथा परिचितों को लिखे पत्रों की संख्या शायद करोड़ों दस्तावेजों में होगी। उसमें ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपियां भारत के कोलकता, मद्रास, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारों में भी हैं। लन्दन की ब्रिटिश इंड़िया ऑफ़िस में और अन्य अनेक अभिलेखागारों में पाँच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होंगे जो भारत में नहीं होंगे। उसमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके अध्ययन से अंग्रेजों ने भारत में क्या किया यह समझ में आता है। उस समय के इंग्लैण्ड के समाज और शासन तंत्र की यदि हमें जानकारी होगी तो अंग्रेजों ने भारत में जो किया उसे समझने में सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही, जब मैं एवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development [AVARD]) का मंत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमें मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर. के. पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम में बहुत रुचि ली और अलग अलग ढंग से सहायता करते रहे। श्री आर. के. पाटिल पुराने आई. सी. एस. थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मंत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गांधी शांति प्रतिष्ठान के मंत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गांधी विद्या संस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीटयूट का भी सहयोग मिला। डॉ. डी. एस. कोठारी भी शुरू से ही उसमें रुचि लेते थे।

१९७१ में 'इंड़ियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और 'सिविल डिसओबिड़ियन्स इन इंड़ियन ट्रेड़िशन' Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गंगाशरण सिन्हा, विवेकानंद केन्द्र, कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की वर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर यूजिन ईर्शिक थे। ईर्शिक के मतानुसार 'सिविल डिसओविडियन्स इन ईड़ियन ट्रेड़िशन' मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए. वी. चटर्जी, जो आई. सी. एस. थे और मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टेट्स के सचिव थे, उनके मतानुसार 'इंड़ियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनों पुस्तकों का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर में इसका उल्लेख करनेवालों में मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के श्री एकनाथ रानड़े, प्रोफ़ेसर राजेन्द्रसिंह और वर्तमान सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तकें मुख्य रूप से अंग्रेजी में ही हैं। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमें समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय लोगों ने अंग्रेजी में ही लिखे हैं। प्रारंभ में ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा में प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय में न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे, और न ही चर्चा कर सकेंगे।

इसलिए इन पुस्तकों का अब हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है।[१.]

मैं १९६६ तक अधिकांशत: इंग्लैण्ड और सविशेष लन्दन में रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहाँ स्थित दस्तावेंजों में से पांच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैंने अवलोकन किया होगा। उनमें से कुछ मैंने ध्यान से देखे, कुछ की हाथ से नकल उतार ली, अनेकों की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच में भारत आकर कोलकता, लखनऊ, मुम्बई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों में भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजों के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकांश पुस्तकें तैयार की गई हैं। ये पुस्तकें जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध में हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजों के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें एकाध पुस्तक इंग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इंग्लैण्ड में मिली है और यह पढ़ी गई पुस्तकों के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरू हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना, समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अंग्रेजों से पूर्व का स्वतंत्र भारत, जहाँ उसकी स्थानिक इकाइयां अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं, वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ में चेन्नई के एगमोर

अभिलेखागार में ऐसी सामग्री मुझे मिली, और ऐसी ही सामग्री इंग्लैण्ड में उससे भी सरलता से मिली। यदि मैं पोर्टुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं, १७ वीं सदी में वहाँ भी भारत के विषय में क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के बाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमें तो गत दो तीन हज़ार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेंगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्थाओं, तंत्रों, कुशलताओं और आज की अपनी आवश्यकताओं और अपनी क्षमता के अनुसार पुनःस्थापना की रीति भी जान लेंगे और समझ लेंगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पाँच हज़ार वर्षों में पड़ोसी देश - ब्रह्मदेश, श्रीलंका, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, इंडोनेशिया, वियतनाम, कम्बोड़िया, मलेशिया, अफ़गानिस्तान, ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयों का स्वभाव और उनकी मान्यताएँ उन देशों के साथ बहुत मिलती जुलती हैं। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढ़ा उसके बाद उन सभी पडोसी देशों के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन: स्थापित करना ज़रूरी है। इसी प्रकार यूरोप, खासकर इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षो से जो सम्बन्ध बढ़े हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्यांकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशों को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसंक्राति
१४, जनवरी २००५
पौष शुद ५, युगाब्द ५१०६

धर्मपाल
आश्रम प्रतिष्ठान
सेवाग्राम
जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

---

१ यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है : मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है, गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। - सं.

सम्पादकीय

१.

सन् १९९२ के जनवरी मास में चैन्नई में विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन में श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर में यह पुस्तक खरीद की और पढ़ी। पढ़कर आश्चर्य और आघात दोनों का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षों से शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत हैं तो भी इस पुस्तक में निरूपित तथ्यों की लेशमात्र जानकारी हमें नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय में कुछ कर नहीं रहे हैं। जो चल रहा है उसे सह लेते हैं और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते हैं ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी में और बाद में गुजराती में अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों तक उसे पहुँचाने का विचार मन में बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यो में व्यस्तता के कारण मन में स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका संक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। 'भारतीय चित्त, मानस एवं काल', 'भारत का स्वधर्म' जैसी पुस्तिकायें भी पढ़ने में आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के 'द अदर इंड़िया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पांच पुस्तकों का संच दिया और पढ़ने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातों के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन में जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के संयोजक का दायित्व मिला। तब मन में इस अनुवाद के विषय में निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बातें होने लगीं। अन्त में पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी में ही होना था। उसके बाद हिन्दी एवं·गुजराती दोनों भाषओं में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे। एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्ज्ञन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एवं व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओं में होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पांच और पांच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना, उन्हें पढ़ना, उनमें से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के परम पूजनीय सरसंघचालक माननीय सुदर्शनजी एवं स्वयं श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्रन्थालयों में एवं विद्वज्ज्ञनों तक इन पुस्तकों को पहुँचानें में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापकों एवं

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वयं श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढ़ने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस संच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त, मानस एवं काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र (६) भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एवं बदनामी (८) गांधी को समझें (९) भारत की परम्परा एवं (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रंथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान का परिणाम है।

२.

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओं, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही संस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती हैं। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकांक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहां तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमश: 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

हिन्दी में ही होना था। उसके बाद हिन्दी एवं•गुजराती दोनों भाषओं में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे। एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्ञन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एवं व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओं में होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पांच और पांच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना, उन्हें पढ़ना, उनमें से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के परम पूजनीय सरसंघचालक माननीय सुदर्शनजी एवं स्वयं श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्रन्थालयों में एवं विद्वज्ञनों तक इन पुस्तकों को पहुँचानें में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापकों एवं

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वयं श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढ़ने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस संच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त, मानस एवं काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र (६) भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एवं बदनामी (८) गांधी को समझें (९) भारत की परम्परा एवं (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रंथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान का परिणाम है।

२.

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओं, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही संस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती हैं। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकांक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहां तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमश: 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

संज्ञा का प्रयोग हम करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व में अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध, सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया। समग्र विश्व में फैल जाने की उसको आकांक्षा थी। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इंग्लैण्ड में ईस्ट इंड़िया कम्पनी बनी। वह भारत में आई। समुद्रतटीय प्रदेशों में उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रों को किले का नाम और रूप दिया, उनमें सैन्य भी रखा, धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतने और अपने कब्जे में लेने का काम शुरू किया, साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरू किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के कब्जे में चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अंग्रेजों ने यहाँ की सभी व्यवस्थाओं- प्रशासकीय और शासकीय, सामाजिक और सांस्कृतिक, आर्थिक और व्यावसायिक, शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरू किया। उन्होंने नए कायदे कानून बनाए, नई व्यवस्थाएँ बनाई, संरचनाओं का निर्माण किया, नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होंने भारत में आकर जो कुछ किया उसमें से अधिकांश तो इंग्लैण्डमें अस्तित्व में था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत में वर्ग संघर्ष पैदा हुए। लोंगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुंठित हो गई, मूल्यों का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यांत्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट, राक्षसी, अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं, समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने, प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया में सिरमौर था। क्योंकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगों के विचार, मानस, व्यवहार, दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमें गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अंग्रेजों का दास बनने में ही हमें गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है, आधुनिक है, श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है, हीन है और लज्जास्पद है, गया बीता है ऐसा हमें लगने लगा। अपनी शिक्षण संस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढ़ी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय, या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकांक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी संरचनाएँ, पद्धतियां, संस्थाएँ वैसी ही बन गईं।

गांधीजी १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होंने जनमानस को जगाया, उसमें प्राण फूंके, उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर, भारत के लिए योग्य हज़ारों वर्षों की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं, गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतंत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परंतु स्वतंत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं हैं। स्वतंत्र भारत में भी हम यूरोप अमेरिका की ओर मुँह लगाये बेठे हैं। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमें अच्छा लगता है।

परन्तु, यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं, भारत की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज, मान्यताएं, पद्धतियां, सब वैसी की वैसी ही हैं। केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछड़े और अंधविश्वासी कहकर आलोचना करते हैं, उन्हें नीचा दिखाते हैं और अपने जैसा बनाना चाहते हैं। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुत: तो उन लोगों का बना हुआ है, उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते हैं। वे ही कायदे-कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं, वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते हैं। वे ही पढ़ाते हैं और नौकरी देते हैं, वे ही खानपान, वेशभूषा, भाषा और कला अपनाते हैं (जो यूरोपीय हैं) और उनको विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगों को वे पराये मानते हैं, बोझ मानते हैं, उनमें सुधार लाना चाहते हैं और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वयं तो यूरोपीय जैसे बन ही गए हैं, दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथों बेचना ही चाहते हैं, जिन लोगों का भारत है वे तो उनकी गिनती में ही नहीं हैं।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमें अध्ययन करना होगा -

स्वयं का, अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है, किसमें है, किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पड़ेगा। मूल बातों को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों का स्वभाव, उनकी आकांक्षाएँ, उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पड़ेगा। उनका मूल्यांकन पश्चिमी मापदण्डों से नहीं अपितु अपने मापदण्डों से करना पड़ेगा। उसका रक्षण, पोषण और संवर्धन कैसे हो यह देखना पड़ेगा। भारत के लोगों में साहस, सम्मान, आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान में उनकी बुद्धि, भावना, कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओं का उपयोग कर उन्हें सच्चे अर्थ में सहभागी बनाना पड़ेगा। यह सब हमें पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियों से नहीं अपितु सामान्य, 'अशिक्षित', 'अर्धशिक्षित' लोगों से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरों से प्रयास कर रहा है और कुंठाओं का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है, छटपटा रहा है, और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ में स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने की।

३.

धर्मपालजी की इन पुस्तकों में इन सभी प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध, विस्तृत निरूपण किया गया है। अंग्रेज भारत में आए उसके बाद उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए किन चालबाजियों को अपनाया, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियों का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखों के प्रमाणों सहित विवरण इन ग्रंथों में मिलता है। इंग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारों में बैठकर, रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अंग्रेज क्लेक्टरों, गवर्नरों, वाइसरायों ने लिखे पत्रों, सूचनाओं और आदेशों को एकत्रित किया है, उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले हैं और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा में हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बड़ी चुनौती निर्माण होती है, क्योंकि -

- आजकल विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अंग्रेजों द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढ़ते हैं। यहाँ अंग्रेजों ने ही लिखे लेखों के आधार पर निरूपित इतिहास है।

- विज्ञान और तंत्रज्ञान की जो जानकारी उसमें है वह आज पढ़ाई ही नहीं जाती।
- कृषि, अर्थव्यवस्था, करपद्धति, व्यवसाय, कारीगरी आदि की अत्यंत आश्चर्यकारक जानकारियां उसमें है। भारत को आर्थिक रूप में बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढ़ते हैं। यहाँ दी गई जानकारियों में स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों की सामग्री हमें प्राप्त होती है।
- व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है, साथ ही उस संकट से कैसे निकला जा सकता है उसके संकेत भी हैं।
- संस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है, किस प्रकार उसे यंत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहाँ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है, उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप में है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

- शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते हैं कि अंग्रेज आए और अपने देश में शिक्षा आई। उन्हें जब यह कहा गया कि १८ वीं शती में भारत में लाखों की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे, और चार सौ की जनसंख्या पर एक विद्यालय था, तो वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें जब 'The Beautiful Tree' दिखाया गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमांच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)
- शिक्षाधिकारी, शिक्षासचिव, शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकांशत: इन बातों से अनभिज्ञ हैं। कुछ जानते भी हैं तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है, केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयों में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं को ही नहीं जानते, अपने इतिहास को नहीं जानते, स्वयं को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियों के स्वर्ग में रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग में भी हम गुलाम हैं और पश्चिममुखापेक्षी, पराधीन बनकर रह रहे हैं।

४.

इस संकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तकें अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई हैं, हम सो रहे हैं तो हमें जगाने के लिए आई हैं, जाग्रत हैं तो झकझोरने के लिए आई हैं, दुर्बल हैं तो सबल बनाने के लिए आई हैं, क्षीणप्राण हुए हैं तो प्राणवान बनाने के लिए आई हैं।

ये पुस्तकें किसके लिए हैं ?

ये पुस्तकें इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, जिसे आज की भाषा में ह्यूमेनिटीज़ कहते हैं, उसके विद्वानों, चिन्तकों, शोधकों, अध्यापकों और छात्रों के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने में स्वाधीन, समृद्ध, सुसंस्कृत, बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकांक्षा रखने वाले बौद्धिकों, सामान्यजनों, संस्थाओं, संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए हैं।

ये पुस्तकें शोध करने वाले विद्वानों और शोधछात्रों के लिए हैं।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद क्या करें ?

धर्मपालजी स्वयं कहते हैं कि पढ़कर केवल प्रशंसा के उद्‌गार, अथवा पुस्तकों की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना संकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा में शोध को आगे बढ़ाने की, भारत की १८ वीं, १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजों में से कदाचित पांच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस में हुआ है। अभी भी लन्दन के, भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यों के अभिलेखागारों में ऐसे असंख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संगठनों और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की संस्थाएं भी बनाई जा सकती हैं।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रों की आवश्यकता है। इन छात्रों को मार्गदर्शन तथा संरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयों, और महाविद्यालयों के इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़) और विद्वत् परिषदों (एकेडमिक काउन्सिल) में इन विषयों पर चर्चा होनी चाहिए, और पाठ्यक्रमों में इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढ़ी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है, यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहां सम्भव है ऐसी गोष्ठियों एवं चर्चा सत्रों का आोयजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बातें पहुँचानी चाहिए। कथाएँ, नाटक, चित्र, प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन में स्थित सुषुप्त भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने वाले किशोर और बाल छात्रों के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर संस्थाएँ निर्माण करे, चलाये, व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की, और नहीं तो सभी व्यवस्थाओं को अपने नियंत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतंत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकड़न से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली, लोगों के मानस, कौशल, उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली, उनमें आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५.

श्री धर्मपालजी गांधीयुग में जन्मे, पले। गांधीयुग के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया, रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लिया, मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण में वे सहभागी वने।

महात्मा गांधी के देशव्यापी ही नहीं, तो विश्वव्यापी प्रभाव के बाद भी गांधीजी के अतिनिकट के, अतिविश्वसनीय, गांधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हें नहीं समझ सके, कुछ ने तो उन्हें समझने का प्रयास भी नहीं किया, कुछ ने उन्हें समझा फिर भी उन्हें दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तंत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओं के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ में भारत में थे (आज उनकी संख्या शायद पाँच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन में जो मंथन जागा उसने उन्हें इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारों में से उन्होंने असंख्य दस्तावेज एकत्रित किए, पढ़े, उनका अध्ययन किया, विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना में रत रहे।

ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में हैं। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओं में हों यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी में हैं और 'जनसत्ता' आदि दैनिक में और 'मंथन' आदि सामयिकों में प्रकाशित हुए हैं । मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओं में कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु संपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती में ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी में हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६.

इस ग्रन्थ श्रेणी में विविध विषय हैं। इसमें विज्ञान और तंत्रज्ञान है; शासन और प्रशासन है; लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमें भारत, इंग्लैंड़ और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु हैं गांधीजी, कोंग्रेस, सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र में है भारत।

अत: एक ही विषय विभिन्न रूपों में, विभिन्न संदर्भो के साथ चर्चा में आता रहता है। और फिर विभिन्न समय में, विभिन्न स्थान पर, भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिये भाषण और लेख भी यहां समाविष्ट हैं। अत: एक साथ पढ़ने पर उसमें पुनरावृत्ति दिखाई देती है-विचारोंकी, घटनाओं की, दृष्टान्तों की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरुप गुजराती प्रकाशन में ११ पुस्तकें थीं और हिन्दी में १० हुई हैं। परंतु विषय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा संभव नहीं हुआ है।

फिर, सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढ़ंग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगों के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत: सुधी पाठकों के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप में ही प्रस्तुत की है।

यहां दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियों और बौद्धिकोंने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणों एवं स्वानुभव के आधार पर, विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी, और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण, उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरों के कार्यकलापों का, कारनामों का अन्तरंग।

इसमें प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेजी भाषा है, सरकारी तंत्र की है, गैर साहित्यिक अफसरों की है, उन्होंने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वयं की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

फलत: पढ़ते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अंग्रेजो ने भारत के विषय में जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहाँ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूलं लिख्यते किञ्चित् - बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामतः यहाँ शैली आज की भाषा में कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पांडित्यपूर्ण है, शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणों के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमें ब्रिटिशरों के स्वयं के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठकों को मानना ही पडेगा इस विषय में हम आश्वस्त रह सकते हैं। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही, पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय में भावात्मक, या भक्तिभाव पूर्ण बातें पढ़ने का आदी है, अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया, अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढ़ने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य में विषय सम्बन्धी पारदर्शी, ठोस, तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमें इस ग्रंथवाली में प्राप्त है। अनेक विषयों

में अनेक प्रकार से हमें बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमें इसमें होती है।

७.

अनुवादकों तथा जिन जिन लोगों ने ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में पढ़ी हैं अथवा अनुवाद के विषय में जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव है कि इस काम में बहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठकों को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास है।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियों की भाषा, फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजी में उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रंग में रंगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनों की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है, गम्भीर वाचन है।

संक्षेप में कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सांस्कृतिक इतिहास है।

८.

इस ग्रंथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य के श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि. २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच में विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९.

इस ग्रंथावलि के प्रकाशन में अनेकानेक व्यक्तियों का सहयोग एवं प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एवं विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आग्रह एवं सहयोग के कारण से ही इस ग्रंथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अतः प्रथमतः हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादकों ने अपने अपने कार्यक्षेत्र में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा में अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रंथावलि गुजरात में प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगों पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमें हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविंद जावडेकरजी ने इन पुस्तकों को साद्यन्त पढ़कर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

'पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमें लगे ही हैं। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०.

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की दिशा में विचार विमर्श करते समय, नई पीढ़ी को इस देश के इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रंथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेंगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रंथावलि में अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करें। हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पंचमी
युगाब्द ५१०८
२३, जनवरी २००७
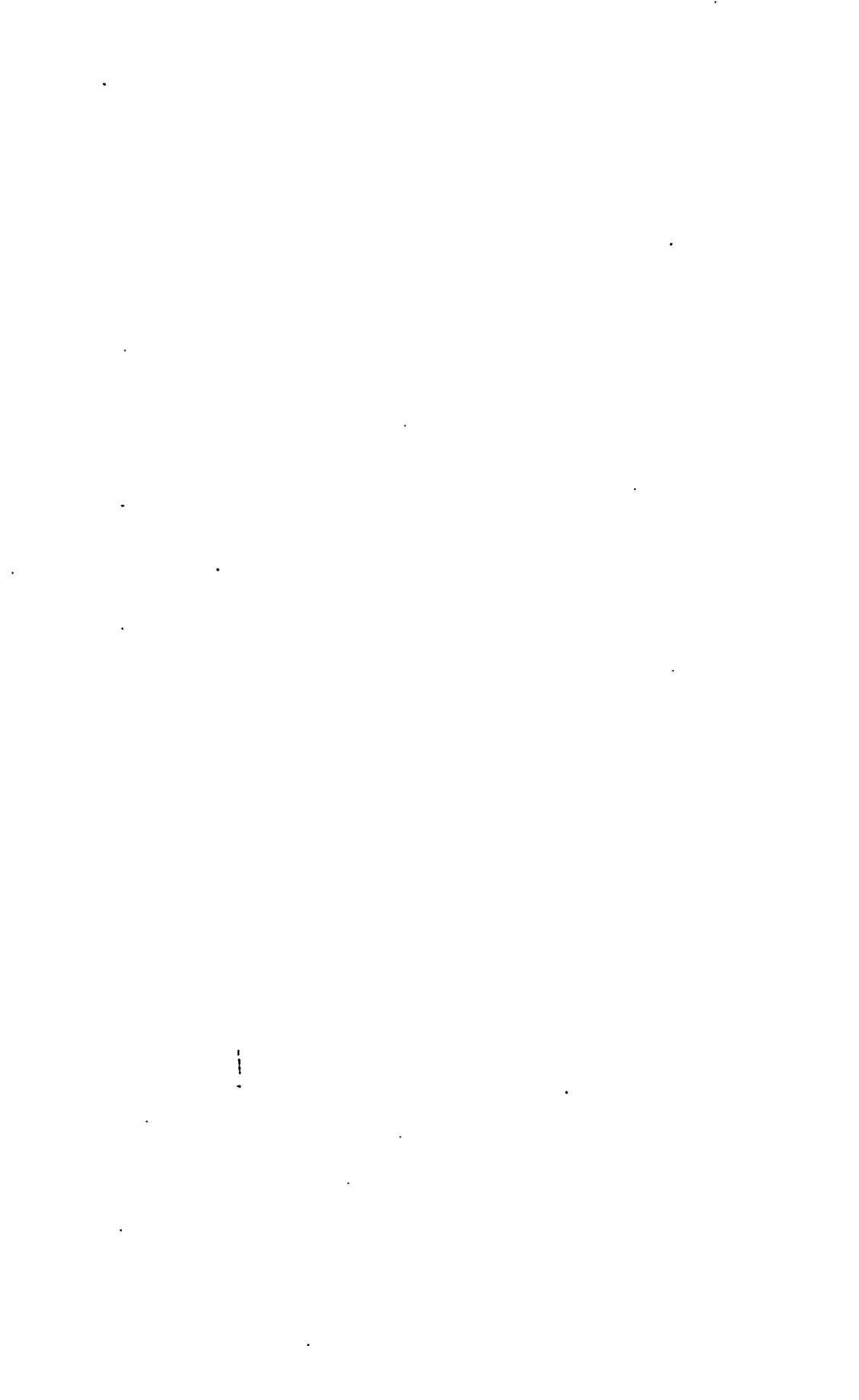
आमुख

सन् १९२० के दशक के मध्य में संयुक्त राज्य अमेरिका की सुश्री केथरीन मेयो ने भारत का एक दीर्घकालीन दौरा किया था। उनका ब्रिटिश वायसराय ने धामधूम से स्वागत किया था। उनके प्रशासन ने उनकी भारत में चहुँदिशि यात्रा के व्यापक प्रबंध किए थे। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका शीर्षक था 'भारत माता' (मदर इंडिया)। इस पुस्तक को घोर अपमानजनक माना गया क्योंकि इसमें भारत की अत्यंत अपमानजनक छवि प्रस्तुत की गई थी। भारत की छवि को इस तरह से धूमिल करने वाली बातें शायद अन्यत्र भी थीं। महात्मा गांधी ने इसे 'सफाई निरीक्षक की रिपोर्ट' की संज्ञा दी थी।

भारत के संबंध में विलियम विल्बरफोर्स (१८१३), जेम्स मिल (१८१७) एवं टी. बी. मैकॉले (१८३५, १८४३) जैसे महान अंग्रेजों द्वारा लिखित सामग्री, भाषण एवं लेखन को यदि इस कार्य में समाहित कर लिया जाए तो भारत के संबंध में उनके पर्यवेक्षण 'मदर इंडिया' से भी कहीं अधिक जहरीले हैं। ये भारत के उज्वल पक्ष को न प्रस्तुत करके कालिमामय पक्ष पर ही नजर डाल कर यथासंभव भारत को हीन चित्रित करते हैं। बहुत से लोग प्रश्न पूछ सकते हैं कि इनके लिखे जाने के १५० वर्ष पश्चात् इन्हें प्रकाशित करने में आखिर औचित्य क्या है। उन्होंने अपने देश के लिये क्या कहा और कैसे कहा यह जानना जरूरी हो तो भी क्या पाठकों के मानस पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं होगा ? क्या वे अधिक भयभीत और हीन भावना से ग्रस्त नहीं हो जाएँगे ?

लगभग ९० वर्ष पूर्व महात्मा गांधी ने अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में तथा बाद में अपने अन्य लेखन एवं कार्यों के माध्यम से हमें बताने का प्रयास किया कि यदि हम इस प्रकार के खतरों एवं नियंत्रणों से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें इसके लिए पूर्ण रूप से अपनी दुनिया का स्वयं निर्माण करना होगा तथा अपनी संस्थाएँ स्थापित करनी होगीं। उनकी प्रज्ञा एवं कुशल नेतृत्व ने हमारे लोगों के लिये चिनगारी का काम किया। वे एकजुट होकर प्रेरित होने लगे। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उनमें साहस पैदा हुआ। लेकिन सन् १९२५ तक महात्मा गांधी को उनमें यह साहस पर्याप्त रूप में

दिखाई नहीं देता था। भारत का धन विदेश में चले जाने तथा विदेशी कपड़े एवं अन्य विदेशी वस्तुओं का भारत में उपयोग होने के परिणामस्वरूप व्याप्त दारिद्र्य की स्थिति पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि कुछ समय के लिए हमें इसका त्याग करना चाहिए। लेकिन भारत का सबसे अधिक नुकसान आलस्य और परस्परता की कमी के कारण से हुआ। अतः शायद यह कहना ठीक ही होगा कि महात्मा गांधी ने प्रत्येक क्षेत्र में जो कुछ कहा और किया, उसका मुख्य उद्देश्य हमारे आलस्य को दूर करना तथा हममें परस्परता की भावना को प्रोत्साहित करना था।

इन मूल पाठों के प्रस्तुतीकरण एवं चिंतन मनन से उम्मीद है कि हमें अपनी मूलभूत समस्याओं की जड़ को समझने में सहायता प्राप्त होगी। दुनियाभर में फैलाई गई हमारी धूमिल या भ्रांत छवि तथा परिणाम स्वरूप हमारे श्रद्धा और विश्वास पर हुआ निरंतर कुठाराघात, विशेष रूप से प्रदीर्घ समय में हमारे ऊपर थोपी गई शिक्षा की पूर्ण रूप से घातक पद्धति हमारे प्रगति पथ के मुख्य अवरोध रहे हैं। इससे हमारे सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में आलस्य का बोलबाला हो गया है। आवश्यक है कि इसके कारणों का पता लगाकर उनके निराकरण के उपाय सोचें तथा पता लगाएँ कि हममें तामसिक गुण कैसे पनपे, तथा हम इनकी वजह से कैसे अकर्मण्य बन गए, और पारस्परिकता की भावना का हममें से कैसे लोप हो गया। हमें खूब सोच विचार करके समुचित रूप से इस दिशा में प्रयास करके इस संबंधमें शीघ्र ही अपनी स्थिति सुदृढ़ बना लेनी चाहिए।

बहुत से पाठकों को यह प्रकाशित सामग्री रुचिकर नहीं भी लगेगी। वे शायद उससे भयभीत भी होंगे। यदि हम संभ्रम की स्थिति में इसे लेंगे तो शायद इससे भय की स्थिति पाठक के मन में जाग्रत भी हो सकती है। लेकिन यदि हम इस के परिणामस्वरूप उत्पन्न स्थिति और उनके परिणामों पर विचार करेंगे तो हमें भय से मुक्ति मिलेगी। हम चाहे किसी भी श्रद्धा विश्वास एवं धर्म के प्रति आस्थावान क्यों न हों, हममें से बहुतों में भयमुक्तता या निडरता की भावना आएगी तथा आत्मविश्वास एवं साहस पैदा होंगे।

कई मित्रों ने विगत ३० वर्षों में यह सामग्री देखी है। इस सामग्री के संकलन हेतु प्रदीप दीक्षित, मीनाक्षी चौधरी, शिवदत्त मिश्र, कृष्ण कुमार, कनक मल गांधी एवं टी. एम. मुकुंदन का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। उनके सहयोग के बिना इसे इस रूप में प्रस्तुत करना संभव नहीं हो पाता।

इस कार्य को छह अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अध्याय में ईसाईकरण के संबंध में हुई बहस का लेखाजोखा प्रस्तुत किया गया है; अध्याय दो एवं तीन में विलियम विल्बरफोर्स द्वारा हाउस ऑफ कॉमन्स में बहस के दौरान दिए गए दो

भाषणों को समाहित किया गया है; अध्याय चार में जेम्स मिल के भारत के तौर तरीकों एवं सभ्यता विषयक 'ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास' की पुनःप्रस्तुति की गई है; अध्याय पाँच में टी बी. मैकॉले के भारतीय शिक्षा (१८३५) विषयक लेखों में से दो लेखों का सार संक्षेप तथा हाउस ऑफ कॉमन्स में उनके द्वारा दिए गए भाषण को समाहित किया गया है; तथा अध्याय छह में अठारहवीं शताब्दी के आसपास के ब्रिटिश समाज विषयक ब्यौरे को समाहित किया गया है।

सेवाग्राम
हनुमान जयंती, मार्च ३१, १९९९ धर्मपाल

विषय प्रवेश

इस कार्य के मुख्य भाग में तीन महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश कथनों तथा भारत के संबंध में ब्रिटिश दृष्टिकोण को स्थान दिया गया है। इसमें प्रथम : जानेमाने वक्ता, सुधारक, समाचार लेखक तथा विक्टोरिया युग के पिता के रूप में प्रख्यात विलियम विल्बरफोर्स द्वारा भारत के ईसाईकरण विषयक ब्रिटिश हाउस ऑफ कोमन्स में सन् १८१३ में प्रस्तुत बहस है; दूसरा नाम जेम्स मिल का है जो उस समय के प्रख्यात, दिग्गज विद्वान एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, तथा जो आगे चलकर ईस्ट इंडिया कंपनी के मुख्य प्रशासक बने जिन्होंने सन् १८१७ में 'ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास' ग्रंथ लिखकर खूब ख्याति अर्जित की थी। उन्हें प्रख्यात उपयोगितावादी एवं मानवतावादी भी माना जाता था। अंतिम तीसरे भाग में टॉमस बेबिंग्टन मैकॉले की दो उद्घोषणाओं का सारसंक्षेप प्रस्तुत किया गया है जिनमें पहला भारतीय शिक्षा विषयक १९३५ का है तथा दूसरा १८४३ का ब्रिटिश हाउस ऑफ कोमन्स में भारत विषयक बहस से संबंधित भाषण है।

ये भारत विषयक मुख्य प्रस्तुतीकरण थे जिन्हें तीन प्रभावी ब्रिटिश नागरिकों ने प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने देश के लोगों के मानस को पीढियों तक प्रभावित किया। उनके दृष्टिकोण की छाप बड़ी संख्या में ब्रिटिश नागरिकों के दिलोदिमाग पर छायी रही। भारतीय नागरिकों के एक भाग के मस्तिष्क को भी इन्होंने प्रभावित किया। आज भी उनके दिलोदिमाग पर यह छाप वैसी ही बनी हुई है। पुनश्च, इस नकारात्मक प्रभाव के वशीभूत होकर जिस क्षमता एवं दूरदृष्टि से उन्होंने १९४७ तक भारत पर ब्रिटेन के लिए शासन एवं प्रबंध करनेवाले लोगों मे श्रद्धा, विश्वास एवं तौर तरीके पनपाए उनसे आज भी विपरीत मानसिकता और वातावरण से हममें से बहुत से लोग ग्रस्त हैं।

इन लोगों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही पद्धति से अपनी अपनी ढपली बजा रहा था, अपना राग अलाप रहा था। प्रत्येक व्यक्ति के इसके पीछे निहित उद्देश्य भी अपनी ही तरह के और एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न थे। लेकिन इस तरह की मानसिकता के परिणामस्वरूप जो वैचारिकता उभरती थी, उसके तीन लक्ष्य साफ दिख रहे थे - भारत को सभ्यता की दृष्टि से अत्यंत पिछड़ा घोषित करना, निकृष्ट स्तर का सिद्ध करना तथा

यहाँ के अंधविश्वासों एवं दयनीय स्थिति को प्रचारित करना। उन्होंने यहाँ की प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक कि भारतीय तौरतरीकों, श्रद्धा-विश्वासों, धार्मिक विधियों एवं दर्शनों, भारतीय कला एवं वास्तुशास्त्र, भारतीय समाज की जाति या वर्ण व्यवस्था के ढाँचे को निकृष्ट एवं निंदनीय सिद्ध किया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि इस व्यवस्था की उत्कृष्ट बातें भी निकृष्ट ही थीं। संक्षेप में, उनके लिए भारत में न तो पौरुष था और न यूरोप जैसी युद्धकला।

इन तीनों, तथा निश्चितरूप से जेम्स मिल के लिए भारत के लोग अमेरिका के मूल निवासियों के जैसे ही थे; अन्तर केवल इतना था कि वे कुछ अधिक दक्ष एवं समृद्ध थे जबकि ये अधिक भ्रष्ट एवं अंधविश्वासों से ग्रस्त थे। अतः उनकी तथा अन्य लोगों की दृष्टि में यदि भारत के अधिकांश लोग अमेरिका के ऐसे लोगों की तरह नष्ट हो जाएँ तो इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होगी। शायद लाभ ही होगा।

लेकिन, बात को आगे बढ़ाने से पूर्व हमें ब्रिटिशों की पृष्ठभूमि को समझना होगा। ब्रिटिश ब्रिटेन की विभिन्न लड़ाइयों के उपरांत हुई जीतों की उपज थे। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो ईसवी सन् के ठीक आरंभ होने से थोड़ा सा पूर्व ही ब्रिटेन पर रोमन लोगों की विजय के साथ ही इनका इतिहास आरंभ होता है। उनके इतिहास का अंत ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में नार्मन लोगों के ब्रिटेन पर आधिपत्य एवं पूर्ण दमन के साथ होता है। इन बाद के विजेताओंने पहले के विजेताओं का सम्पूर्ण स्वामित्वहरण किया और वहाँ के निवासियों का, लगभग दस लाख लोगों का, उनके ९५% संसाधन स्रोतों के अधिग्रहण के साथ, सर्वस्व 'नियम का वास्ता देकर' हथिया लिया। उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करके पूर्णतः धर्मतंत्रीय व्यवस्था को स्थापित किया। अतः ब्रिटिश पहले आयर्लैंड पर आक्रमण, लूटमार, विजय एवं शासन करते रहे और १६वीं शताब्दी के पश्चात् उसके समग्र विश्व में न्यायसंगत होने की दुहाई देते रहे।

ब्रिटिशों ने सामान्यतः गैरईसाई लोगों के सहअस्तित्व को कभी भी स्वीकार नहीं किया। भिन्न धार्मिक पृष्ठभूमिवाले लोगों को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उदाहरण के लिए आयर्लैंड के लोगों के साथ उन्होंने जो कुछ किया, उसके आधार पर इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

उनके विजेता के दृष्टि से परास्त होनेवाले लोगों को अंततः वहा रहने का कोई अधिकार नहीं था। अतः उन्हें गायब हो जाना चाहिए। और यदि भौतिक दृष्टि से पूर्ण रूप से ऐसा नही होता है तो कम से कम संस्कृति एवं सभ्यता की दृष्टि से तो होना ही चाहिये। उन्हें अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को त्याग कर विजेताओं की सभ्यता एवं

संस्कृति का वरण करना चाहिए। आस्ट्रेलिया एवं न्यूझीलैंड में वहाँ के मूल निवासियों का पूरी तरह से सफाया कर दिया गया; उत्तरी अमेरिका में लगभग ३००-४०० वर्षों में वहाँ के मूल निवासियों का लगभग पूर्ण सफाया कर दिया गया। आयर्लैंड में भी आंशिक रूप में ऐसा ही किया गया। अमेरिका के मूल निवासियों की जनसंख्या सन् १९४२ में[2] ११२ से १४० मिलियन थी। भारत के लोगों पर ब्रिटिशों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार, जानबूझकर पैदा किए गए अकालों, रोगों, दलों द्वारा उनके कानूनों के भंग करने तथा निष्ठा के नाम पर जुर्म ढाए जाते रहे। लोगों को मौत के घाट उतारा जाता रहा। आंध्रप्रदेश में पल्नाड में तो इस के ब्रिटिश अधिग्रहण के कुछ ही दशकों के पश्चात् प्रत्येक दस वर्ष में आधी जनसंख्या का किसी न किसी तरह सफाया हो जाया करता था। ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय लोगों द्वारा की गई भारतीय लोगों की मृत्यु के बारे में कोई स्पष्ट गणना हमारे पास उपलब्ध नहीं है। सन् १७४८ से १९४७ तक भारत में ब्रिटिश शासन को ब्रिटिश शक्ति एवं भारतीय जनता के २०० वर्षों के युद्ध के रूप में यथार्थतः देखा जा सकता है। अकालों, रोगों, ब्रिटिशों द्वारा की गई हत्याओं की वजह से इस अवधि में २०० से ५०० मिलियन लोगों को निरपवाद रूप से मौत के मुँह मे धकेला गया। ब्रिटिशों की वजह से हुई मृत्यु के बारे में हमें सही तरह से पता नहीं है। ये और अधिक भी हो सकती है। इनमें से अधिकांश मौतें ब्रिटिश शासनकाल के आरंभिक १०० वर्षों में बीमारी के कारण हुई होंगी। शायद भारत में ब्रिटिश वयस्क पुरुषों में से सम्रगतः दस में से एक पुरुष ब्रिटिश थल सेना या नौ सेना के सदस्य के रूप में था।

इन शताब्दियों में ब्रिटिश समाज तथा यूरोपीय प्रथाओं के संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। तथापि, यहाँ इन के संबंध में ब्यौरेवार निरूपण करने के लिए उपयुक्त अवसर नहीं लगता। लेकिन इनमें से दो प्रथाओं के संबंध में यहाँ संक्षेप में उल्लेख करना संगत होगा। इनमें से एक है डायन प्रथा। १५-१६-१७वीं शताब्दी में लाखों पुरुषों और स्त्रियों को डायन करार दिया गया था तथा ब्रिटेन में एक लाख या उससे भी अधिक पुरुषों एवं स्त्रियों को जिंदा जला दिया गया था। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में ब्रिटेन में डायन करार दे कर बहुत से व्यक्तियों को जिंदा जला दिया गया। दूसरी व्यापक प्रथा कदाचित ईसा पूर्व से प्रारम्भ हुई थी और १८वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित थी जिसके अनुसार लगभग २०% से ३०% यूरोपीय बचों का उनके माता-पिता द्वारा परित्याग किया जाता था। अधिकांश बचों को ऐसे स्थानों पर फैंका जाता था जहाँ परित्याग करने के कुछ ही समय में उनकी मृत्यु हो जाती थी। इनमें से जिंदा बचने वालो में से आनुपातिक दृष्टि से कुछ को परिवारों द्वारा दत्तक लिया जाता था तथा कुछ

को आनुपातिक रूप में ईसाई चर्च अपना लेते थे जो बाद में बढ़-पलकर मठवासी तथा मठवासिनी बन जाया करते थे। उन्हीं में से कुछ ईसाई धर्मतंत्र के उच्चतम स्थान तक पहुँच जाया करते थे। उनमें से बचे हुए व्यक्तियों को अन्य लोग ले जाते थे और उन्हें गुलाम, वेश्या तथा अन्य रूप में इस्तेमाल करते थे। इन सबका क्या होता था, इसके संबंध में हम यहाँ १८वीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिक जा जेक रूसो को उद्धृत करके बता सकते हैं,

'मेरे तीसरे बच्चे को पहले दो बच्चों की ही भाँति परित्यक्त शिशुगृह में रखा गया। मैंने अगले सभी बच्चों के साथ भी यही किया। मेरे पाँच बच्चे थे। यह व्यवस्था मुझे इतनी अच्छी, इतनी संवेदनशील तथा इतनी उपयुक्त लगी कि यदि मैं इसकी भूरि भूरि प्रशंसा न करूँ तो माताओं के मन में इसके संबंध में कोई आदरभाव नहीं रहेगा.... साफ शब्दों में कहूँ तो मैंने अपने इस कृत्य को गोपनीय नहीं रखा... क्योंकि मैं इसमें किसी भी तरह की कोई त्रुटि नहीं देखता। सभी बातों पर विचार करने के उपरांत मैंने अपने बच्चों के लिए उनके हित में जो सर्वोत्कृष्ट था वही मार्ग चुना। मैंने वही रास्ता पसंद किया जो मुझे सबसे अच्छा लगा...।'

(स्वीकारोक्तियाँ : पेरिस, १९६४, पृ. ४२४)[३]

२.

भारत की निम्नश्रेणी की हद तक बदनामी, गरीबी आदि के संबंधमें विल्बरफोर्स, जेम्स मिल एवं मैकाले के अभिप्रायों की भारतीय प्रस्तावना के रूप में निम्नलिखित पृष्ठों में विवरणों के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है जोकि अधिकांश ब्रिटिश अभिलेखों से प्राप्त किए गए हैं। इनमें दर्ज है कि भारत १७५० के आसपास (या ब्रिटिश अधिग्रहण तथा बाद में भी) कैसा था, इसकी दुर्दशा कैसे आरंभ हुई तथा किस तरह से यह सब कुछ खोकर निम्न स्तर पर आ गया। इस विवरण को आरंभ करने के पूर्व मैं संक्षेप में बताना चाहता हूँ कि मैं इन तथ्यों के निष्कर्षों पर कैसे पहुँचा।

लगभग सन् १९५० से अपने लोगों के ज्ञान, उनके तौरतरीकों तथा क्षमता के संबंध में बताए गए तथ्यों के प्रति मैं आशंकित हुआ। सन् १९४९ में ब्रिटेन एवं इजरायल में रहने के पश्चात् मुझे प्रतीत हुआ कि ज्ञान सम्पन्नता एवं कर्मठता की दृष्टि से हमारे लोग सामान्यतः ब्रिटेन, पश्चिमी यूरोप या इझरायल के लोगों के समकक्ष ही थे। मुझे लगा कि ये सब भ्रांत धारणाएँ उनकी परिस्थितियों एवं उन पर शासन करनेवाले

संस्कृति का वरण करना चाहिए। आस्ट्रेलिया एवं न्यूझीलैंड में वहाँ के मूल निवासियों का पूरी तरह से सफाया कर दिया गया; उत्तरी अमेरिका में लगभग ३००-४०० वर्षों में वहाँ के मूल निवासियों का लगभग पूर्ण सफाया कर दिया गया। आयर्लैंड में भी आंशिक रूप में ऐसा ही किया गया। अमेरिका के मूल निवासियों की जनसंख्या सन् १९४२ में[२] ११२ से १४० मिलियन थी। भारत के लोगों पर ब्रिटिशों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार, जानबूझकर पैदा किए गए अकालों, रोगों, दलों द्वारा उनके कानूनों के भंग करने तथा निष्ठा के नाम पर जुर्म ढाए जाते रहे। लोगों को मौत के घाट उतारा जाता रहा। आंध्रप्रदेश में पल्नाड में तो इस के ब्रिटिश अधिग्रहण के कुछ ही दशकों के पश्चात् प्रत्येक दस वर्ष में आधी जनसंख्या का किसी न किसी तरह सफाया हो जाया करता था। ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय लोगों द्वारा की गई भारतीय लोगों की मृत्यु के बारे में कोई स्पष्ट गणना हमारे पास उपलब्ध नहीं है। सन् १७४८ से १९४७ तक भारत में ब्रिटिश शासन को ब्रिटिश शक्ति एवं भारतीय जनता के २०० वर्षों के युद्ध के रूप में यथार्थतः देखा जा सकता है। अकालों, रोगों, ब्रिटिशों द्वारा की गई हत्याओं की वजह से इस अवधि में २०० से ५०० मिलियन लोगों को निरपवाद रूप से मौत के मुँह मे धकेला गया। ब्रिटिशों की वजह से हुई मृत्यु के बारे में हमें सही तरह से पता नहीं है। ये और अधिक भी हो सकती है। इनमें से अधिकांश मौतें ब्रिटिश शासनकाल के आरंभिक १०० वर्षों में बीमारी के कारण हुई होंगी। शायद भारत में ब्रिटिश वयस्क पुरुषों में से सम्रगतः दस में से एक पुरुष ब्रिटिश थल सेना या नौ सेना के सदस्य के रूप में था।

इन शताब्दियों में ब्रिटिश समाज तथा यूरोपीय प्रथाओं के संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। तथापि, यहाँ इन के संबंध में ब्यौरेवार निरूपण करने के लिए उपयुक्त अवसर नहीं लगता। लेकिन इनमें से दो प्रथाओं के संबंध में यहाँ संक्षेप में उल्लेख करना संगत होगा। इनमें से एक है डायन प्रथा। १५-१६-१७वीं शताब्दी में लाखों पुरुषों और स्त्रियों को डायन करार दिया गया था तथा ब्रिटेन में एक लाख या उससे भी अधिक पुरुषों एवं स्त्रियों को जिंदा जला दिया गया था। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में ब्रिटेन में डायन करार दे कर बहुत से व्यक्तियों को जिंदा जला दिया गया। दूसरी व्यापक प्रथा कदाचित ईसा पूर्व से प्रारम्भ हुई थी और १८वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित थी जिसके अनुसार लगभग २०% से ३०% यूरोपीय बच्चों का उनके माता-पिता द्वारा परित्याग किया जाता था। अधिकांश बच्चों को ऐसे स्थानों पर फैंका जाता था जहाँ परित्याग करने के कुछ ही समय में उनकी मृत्यु हो जाती थी। इनमें से जिंदा बचने वालो में से आनुपातिक दृष्टि से कुछ को परिवारों द्वारा दत्तक लिया जाता था तथा कुछ

को आनुपातिक रूप में ईसाई चर्च अपना लेते थे जो बाद में बढ़-पलकर मठवासी तथा मठवासिनी बन जाया करते थे। उन्हीं में से कुछ ईसाई धर्मतंत्र के उच्चतम स्थान तक पहुँच जाया करते थे। उनमें से बचे हुए व्यक्तियों को अन्य लोग ले जाते थे और उन्हें गुलाम, वेश्या तथा अन्य रूप में इस्तेमाल करते थे। इन सबका क्या होता था, इसके संबंध में हम यहाँ १८वीं शताब्दी के यूरोपीय दार्शनिक जा जेक रूसो को उद्धृत करके बता सकते हैं,

'मेरे तीसरे बच्चे को पहले दो बच्चों की ही भाँति परित्यक्त शिशुगृह में रखा गया। मैंने अगले सभी बच्चों के साथ भी यही किया। मेरे पाँच बच्चे थे। यह व्यवस्था मुझे इतनी अच्छी, इतनी संवेदनशील तथा इतनी उपयुक्त लगी कि यदि मैं इसकी भूरि भूरि प्रशंसा न करूँ तो माताओं के मन में इसके संबंध में कोई आदरभाव नहीं रहेगा.... साफ शब्दों में कहूँ तो मैंने अपने इस कृत्य को गोपनीय नहीं रखा... क्योंकि मैं इसमें किसी भी तरह की कोई त्रुटि नहीं देखता। सभी बातों पर विचार करने के उपरांत मैंने अपने बच्चों के लिए उनके हित में जो सर्वोकृष्ट था वही मार्ग चुना। मैंने वही रास्ता पसंद किया जो मुझे सबसे अच्छा लगा...।'

(स्वीकारोक्तियाँ : पेरिस, १९६४, पृ. ४२४)[३]

२.

भारत की निम्नश्रेणी की हद तक बदनामी, गरीबी आदि के संबंधमें विल्बरफोर्स, जेम्स मिल एवं मैकाले के अभिप्रायों की भारतीय प्रस्तावना के रूप में निम्नलिखित पृष्ठों में विवरणों के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है जोकि अधिकांश ब्रिटिश अभिलेखों से प्राप्त किए गए हैं। इनमें दर्ज है कि भारत १७५० के आसपास (या ब्रिटिश अधिग्रहण तथा बाद में भी) कैसा था, इसकी दुर्दशा कैसे आरंभ हुई तथा किस तरह से यह सब कुछ खोकर निम्न स्तर पर आ गया। इस विवरण को आरंभ करने के पूर्व मैं संक्षेप में बताना चाहता हूँ कि मैं इन तथ्यों के निष्कर्षों पर कैसे पहुँचा।

लगभग सन् १९५० से अपने लोगों के ज्ञान, उनके तौरतरीकों तथा क्षमता के संबंध में बताए गए तथ्यों के प्रति मैं आशंकित हुआ। सन् १९४९ में ब्रिटेन एवं इजरायल में रहने के पश्चात् मुझे प्रतीत हुआ कि ज्ञान सम्पन्नता एवं कर्मठता की दृष्टि से हमारे लोग सामान्यतः ब्रिटेन, पश्चिमी यूरोप या इझरायल के लोगों के समकक्ष ही थे। मुझे लगा कि ये सब भ्रांत धारणाएँ उनकी परिस्थितियों एवं उन पर शासन करनेवाले

ब्रिटिशों द्वारा उनके आस्था-विश्वासों पर कुठाराघात के रूप में ही थीं। मुझे यह भी महसूस हुआ कि हमारे लोग लोकजीवन के समग्र क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप से पूर्णतः उद्यमशील एवं प्रवर्तनशील थे। सन् १९६० तक मुझे लगने लगा कि ऐसा बिल्कुल ही नहीं था कि उनके दिमाग में लोकजीवन के विचार नहीं थे। सन् १९६० के आसपास भी हम यदि उन्हें उनके साहित्य के माध्यम से पढ़कर समझने की कोशिश करें तथा इस संबंध में गहन रूप में तथ्यों की छानबीन करें तो पता चलेगा कि भारत के लोग वैविध्यपूर्ण लोकजीवन के कार्यों में सन्नद्ध थे। लेकिन जैसे ही हम उन्हें अज्ञानी एवं व्यक्तिपरक रूप में देखने लगते हैं तो हम उनके प्रति उपेक्षा भाव से ग्रस्त हो जाते हैं। आगे तथ्यों की पड़ताल करते हुए इस विषय पर पर्याप्त अध्ययन करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस तरह का सामूहिक जीवन पहले बहुत अधिक व्यापक एवं सक्रिय रूप में था। सन् १९६४-६५ तक मुझे ज्ञात हुआ कि भारत विषयक आरंभिक ब्रिटिश अभिलेखों में भारत के जीवन, रहनसहन एवं आस्था-विश्वासों के संबंध में विविध परिप्रेक्ष्यों में अधिक विस्तृत जानकारी दी गई थी। इसके पश्चात् मैंने मद्रास (अब चेन्नै) में तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार में इन अभिलेखों में से कुछ की प्राथमिक जानकारी प्राप्त की।

अपने अतीत के संबंध में रत्तीभर जानकारी तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार से प्राप्त होने से मैं ब्रिटेन एवं भारत के बीच आरंभिक समय में हुई भारतीय समाज विषयक बहसों की जानकारी प्राप्त करने हेतु सामग्री देखने की इच्छा से ब्रिटेन गया। तब से कई वर्षों में, मैंने ब्रिटेन में ३० से ३५ उन बृहत एवं लघु अभिलेखागारों में जाकर सामग्री का अध्ययन किया है जहाँ भारत विषयक सामग्री उपलब्ध है। इनमें से बृहत अभिलेखागार लंदन या एडिनबर्ग या ऑक्सफोर्ड में थे जहाँ मैं अधिक बार गया। तत्पश्चात् सन् १९८० के बाद मैंने तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार में उस विशिष्ट सामग्री का अवलोकन करने के प्रयास भी किए। इससे पूर्व, मैंने सन् १९७१ में कलकत्ता में बंगाल राज्य अभिलेखागार की कुछ सामग्री का भी अवलोकन किया। सन् १९७० में लखनऊ एवं इलाहाबाद स्थित उत्तरप्रदेश राज्य अभिलेखागारों में भी मैं गया। सन् १९७० के आसपास ही मुंबई राज्य अभिलेखागार में भी गया। मैंने भारतीय अभिलेखागार, दिल्ली में जाकर भी सामग्री का अवलोकन किया। विशेष रूप से मैंने वहाँ सन् १७८०-१९३० की अवधि में समग्र भारत में बेगार प्रथा विषयक सामग्री का अवलोकन किया। सन् १८८० से १८९० के दशक में बड़े पैमाने पर मुख्यतः ब्रिटिशों के भोजन के लिए बड़ी संख्या में गायों और बैलों की हत्या करने के संबंध में पशु हत्या विरोधी आंदोलन

विषयक सामग्री का भी अध्ययन किया। इस तरह से मैंने जो सामग्री संकलित की वह कुछ विभिन्न विषयों एवं अवधियों से संबंधित थी। लेकिन मेरे लिए इस सामग्री ने भारतीय जीवन एवं राजनीति के विविध क्षितिज खोल दिये। मुझे ज्ञात हुआ कि कैसे यह देश अज्ञान एवं गरीबी के गर्त में धकेला गया, कैसे यहाँ के हजारों वर्षों के प्राकृतिक संसाधनों, कृषि एवं उद्योगों की उपेक्षा की गई, ज्ञान की महान परंपरा को नष्ट किया गया एवं उसे घिसी-पिटी एवं मृत करार दिया गया तथा भारत के श्रद्धा-विश्वासों को धार्मिक-आर्थिक, सांस्कृतिक दृष्टि से विकृत रूपमें प्रस्तुत करके नष्ट करने की कोशिश की गई तथा लोगों, प्राणियों एवं वृक्षों के जीवन को कुपोषण एवं दुर्व्यवहार के माध्यम से इस तरह से पदावनत किया गया ताकि आगे पीढियों तक इनकी पुनर्प्रतिष्ठा न हो सके। आधुनिक पश्चिमी शब्दावली त्रिकूट (ट्राएज)[४] के निहितार्थ का भारत में विगत २५० वर्षों में कारगर रीति से उपयोग होता रहा। तब से लेकर आजतक यह खेल जारी है। यह सब अधिकांश रूप से इसलिए हो रहा है क्योंकि एक ओर हमारे ऊपर बाहरी दबाव बरकरार हैं; दूसरे हमारे विखंडित समाज का श्रेष्ठ जनगण बृहत्तर समाज से भावनात्मक दृष्टि से अलग थलग पड़ गया है। बृहत्तर समाज को आत्मविस्मृति, अपने श्रद्धा एवं विश्वासों, आस्थाओं के प्रति कमजोर या नरम रवैया होने से स्थिति और भी विषम बनी हुई है। लेकिन अब यह सोचना है कि इस विषम स्थिति से इसे निकालकर आगे भविष्य में इस और कैसे आशान्वित हुआ जा सकता है।

३.

यहाँ पुनर्प्रस्तुत सामग्री वास्तव में भारत के संबंध में बिल्कुल भी नहीं है अपितु भारतीय लोगों के रहन-सहन, निष्ठा, श्रद्धा-विश्वास के संबंध में ब्रिटिश-दृष्टिकोण या 'भारत के संबंध में अनुमानों' विषयक है जो कि जोरदार बहस को प्रायः रूप देती है। यह उस समय से संबंधित है जब ब्रिटेन ने भारत पर विजय प्राप्त की थी और यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रिटेन का बौद्धिक वर्ग एवं नेता भारत के प्रति घृणाभाव से पीड़ित थे। उन्हें इस बात से आघात लगा था कि उनकी पूर्ण बर्बरता से भी भारतीय आस्थाएँ, श्रद्धा-विश्वास चरमराकर ध्वस्त नहीं हुए थे; यहाँ कि लोगों की लूट-खसोट करने तथा लोगों को उत्पीडित करने, मानवनिर्मित अकालों को पैदा करने, ब्रिटिश सरकार के हित में भारतीय संसाधनों को समाप्त करने पर भी वे भारतीयों को उनके आस्था-विश्वासों से विचलित नहीं कर पाए थे। और इस तरह से, उन्होंने भारतीय समाज को तहसनहस करने के भरपूर प्रयत्न

किए लेकिन भारतीयों का समग्रतः सफाया नहीं किया जा सका।

ब्रिटिश नीतियों एवं कारनामों की वजह से अव्यवस्था की स्थिति पैदा हो गई। १७७०[५] के आरंभ में तो भारतीय सैनिकों एवं पुलिस के जवानों ने नौकरियाँ छोड़कर डकैत बनना स्वीकार किया। उनके संसाधनों के स्रोतों से उन्हें वंचित करके भारतीय आस्था-श्रद्धा एवं विश्वासों को डगमगाने के प्रयास किये। भारतीय कृषि उत्पादों के अधिकांश स्वत्वहरण के द्वारा इसे विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप स्थानीय ढाँचा चरमरा गया। परिणामतः कुछ समय में तो भारतीय उत्पादक भी विनाश के कगार पर पहुँच कर छिन्न विच्छिन्न हो गये।

भारत में इस्लामी शासकों के शासनकाल में जहाँगीर जैसे बादशाह अपने साम्राज्य[६] से लगभग ४% राजस्व लिया करते थे। अधिक शक्तिशाली बादशाह औरंगजेब के शासनकाल में भी यह राजस्व २०% से अधिक कभी भी नहीं था। सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक ढाँचे के अनुरक्षण के लिए स्थानीय एवं माध्यमिक स्तरों पर ८०% से ९५% हेतु इन संसाधनों का उपयोग किया जाता था। इस प्रकार से भारत मात्र हजरतअली (७वीं सदी में इमाम) को ही वांछित, उदार एवं सुखद देश नहीं दिखता था अपितु दुनिया के जिन लोगों ने भारत को देखा था, उसके विषय में सुना था उन्हें भी भारत के विषय में इसी प्रकार की अनुभूति होती थी।

अपनी बर्बरता, हिंसा एवं नीतियों का प्रभाव जमाने के लिए तथा अपनी बात को अकाट्य सिद्ध करने के लिए ब्रिटिशों ने बहुत पहले से विद्यमान उपेक्षित भारतीय ग्रंथों को ढूंढ़ना शुरू किया। तैमूर लेन या अलाउद्दीन खिलजी या ग्रीकों आदि की भारत विषयक सामग्री को भारतीय श्रेष्ठजनवर्ग के सम्मुख इस प्रकार से प्रस्तुत करना शुरू किया कि वे इसमें निहित तथ्यों से सहमत हो जाएँ तथा मानने लगें कि वे क्या थे तथा भारत क्या था। विस्तृत भारतीय ग्रन्थों की खोजबीन शुरू की गई तथा समय बीतते इसे 'भारत विद्या' (Indology) नाम से अभिहित किया गया, जिसमें भारत की छबि को अज्ञानतापूर्ण, छलयुक्त, विश्वासघातपूर्ण, दयनीय, अंधकाराच्छन्न रूप में दर्शाने की शुरुआत हुई। जो भी उनके सम्पर्क में आये उनके समक्ष भारत की ह्रासोन्मुख छबि को प्रस्तुत किया गया। वैश्विक स्तर पर उनकी यह कुटिल चाल व्यापक रूप में सफल रही।

सन् १८१३ तक ईसाईकरण विषयक बहस के नाम पर ६५ वर्षों तक ब्रिटेन भारत में विजय, दमन एवं बर्बरता का खेल खेलता रहा। सूरत के लोगों को सन् १६१८ में ब्रिटिशों की इस मानसिकता की उस समय अनुभूति हुई जब जहाँगीर के दरबार में ब्रिटिश राजदूत सर टॉमस रॉ ने कहा,

'भारतीयों के साथ सदभावपूर्ण व्यवहार करना और उनसे मित्रता स्थापित करना निरर्थक है; वे हमसे उकता गए हैं.... हमने उनके बंदरगाहों की स्थिति दयनीय बना दी है, उनके समस्त व्यवसायों को चौपट कर दिया है केवल एक ही आधार पर उन्हें आश्रित बना कर रखा जा सकता है और हम अपने अस्तित्व को बनाए रख सकते हैं। वह यह है कि हम उन में आतंक की स्थिति बनाए रखें।' उसने आगे कहा, 'मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इन लोगों को एक हाथ में तलवार तथा दूसरे हाथ में कोडा लेकर अच्छी तरह से काबू में किया जा सकता है। यदि हमने इनके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया तो ये जहाजरानी का अधिग्रहण कर लेंगे तथा स्थिति को अपने पक्ष में कर लेंगे। अतः मेरी अपेक्षा के अनुरूप स्थिति बनाए रखने में सहयोग करें।'

तथापि उपर्युक्त कथन से यह नहीं कहा जा सकता कि पुर्तगाली, स्पेनी, डच या फ्रांसीसी यहाँ के लोगों पर आक्रमण करने में तथा उनके अधिग्रहण के क्षेत्र के लोगों के साथ व्यवहार करने में कम बर्बर या नृशंस थे।

४.

बंगाल एवं बिहार में ब्रिटिशों के प्रवेश के १२ वर्षों के अंदर ही सन् १७६९ में ब्रिटिश शासन द्वारा मानवनिर्मित अकाल पडा, जिसमें उनके अनुसार वहाँ की जनसंख्या का एक तिहाई भाग काल के गाल में समा गया। लेकिन इस का ब्रिटिशों पर कोई प्रभाव नहीं पडा। लोगों पर जुर्म ढाने में वे उसी तरह डटे रहे। उनके आसपास मृतदेहों के अम्बार लगने पर भी वे टस से मस नहीं हुए। कोलकता से अपने मालिकों को लंदन में उन्होंने सूचना भेजी की अकाल पड़ने के बाबजूद भी भू-राजस्व पूरी तरह से वसूल किया गया है, कोई ढील नहीं दी गई है। उस समय की बंगाल एवं बिहार की स्थिति की यथार्थ रूप में कल्पना करना सर्वथा असम्भव है।

लगभग २० वर्ष पश्चात् यह हास्यास्पद ब्रिटिश सिद्धांत आया कि भारत की भूमि विजेता की है और विजेता अपनी भूमि पर मनचाहा पट्टा या राजस्व लेकर किसानों को जमीन अस्थायी आधार पर खेती करने के लिए दे सकते हैं।

अस्थायी काश्तकारी के लिए यह तर्क आगे किया गया कि १८वीं शताब्दी के ब्रिटेन में यह प्रथा प्रचलित थी। यदि ब्रिटेन में कृषक को अल्प अवधि का नोटिस देकर जमीन के स्वामित्व से मुक्त किया जा सकता है तो भारत के कृषक के साथ इससे भिन्न व्यवहार क्यों किया जाय ?

ब्रिटिश सरकार ने भूमि का पट्टा भूमि के कुल उत्पादन का पचास प्रतिशत नियत

कर दिया। यह कई वर्षों तक औसत रूप से ठीक ढंग से चलता रहा। इस पट्टे को नकद राशि में परिवर्तित कर दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार से नियत किया गया पट्टा ब्रिटिश शासन से पहले के पट्टे की तुलना में लगभग चार गुना अधिक हो गया था।[१०] इसके पश्चात् दबावों की शृंखला ही बन गई। कीमतें गिर गईं तथा भारत के बहुत से क्षेत्रों, विशेष रूप से आंध्रप्रदेश एवं तमिलनाडु आदि में कृषि व्यवसाय दबावों की निरंतर चपेट में आ गया। पट्टे में तीव्र वृद्धि एवं लूटखसोट के कारण से राजस्व के रूप में कुल उत्पादन के प्रायः ८०% तक तथा उससे अधिक की अदायगी होती थी। कई बार तो कुल उत्पादन से भी राजस्व की रकम की भरपाई नहीं हो पाती थी अतः अत्यधिक उर्वरभूमि के बड़े भाग पर सिंचाई की समस्त सुविधाओं के होने पर भी खेती नहीं हो पाती थी। उसे बिना उपयोग किये छोड़ दिया जाता था।[११] राजस्व प्राप्त करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर लोगों को उत्पीडित किया जाता था। (यूरोप में इस प्रकार के उत्पीडन की स्थिति ऐसी वसूलियों को करने के लिए तथा सैंकडों अन्य तरह के उद्देश्यों के लिए लम्बे समय तक की जाती रही होगी) सन् १८०४ में ही मद्रास प्रेसीडेन्सी के गवर्नर लोर्ड बेंटिकने कहा था, 'मेरी राय सामान्यतः यह है कि हमने इस देश के साथ अत्यंत कठोरता पूर्ण व्यवहार किया है। परिणाम स्वरूप यह देश भीषण एवं दयनीय दारिद्य की स्थिति में पहुँच गया है। मुझे आशंका है कि राजस्व इकट्ठा करने में सामान्यतः अधिक दमन किया गया है।'[१३] ऐसे कथन बार-बार दुहराए गए; मद्रास के राजस्व बोर्ड ने जोरजबर्दस्ती निष्ठुर लगान की वसूली करना, उत्पीडन करना आदि बातों को स्वीकार किया था तथा कहा था कि लंदन द्वारा बोर्ड से निरन्तर धन की माँग करने तथा धमकियाँ देने की वजह से राजस्व संग्रह करने में दमन का रवैया अपनाया जाता रहा था।[१४]

भारत के अन्य भागों में भी इसी प्रकार से निष्ठुरतापूर्वक लगान की वसूली करने का तथा उत्पीडित करने का क्रम बदस्तूर जारी था। ब्रिटिश अधिकारियों ने कहा था कि सन् १८५७-५८ के प्रख्यात भारतीय गदर के मुख्य कारणों में एक कारण अत्यधिक भू-राजस्व प्राप्त करने की स्थिति थी। यह राजस्व बन्दूक की नोक पर वसूला जाता था।[१५]

जहाँ तक सर्वसामान्य भारतीय कृषि का प्रश्न था, किसानों से राजस्व की वसूली मनमाने ढंग से संगीन की नोक पर कई क्षेत्रों में लगभग सन् १९४० तक की जाती रही थी। जब कीमतों में निरंतर स्फीति का दबाव बना हुआ था। नई भारतीय प्रेसीडन्सी सरकारों ने भू-पट्टे में कुछ हद तक राहत दी अतः किसानों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से

कुछ ठीक हुई, उनका उत्पीडन कम हुआ तथा उनके विश्वास में वृद्धि हुई।

सन् १९७३ में व्यवस्था स्थायी होने से बंगाल के अत्यंत समृद्ध जमींदारों की स्थिति दयनीय हो गई थी। उनमें से अधिकांश पुराने राजा थे, कुछ साहूकार थे, कुछ सट्टेबाज आदि थे। सरकार को जो कुछ भी प्राप्ति होती थी उसका १०% भाग इन्हें मिलता था तथा २ $^{1}/_{2}$% भाग खर्च के रूप में प्राप्त होता था।[१६] कुछ ही वर्षों में उन्होंने अत्यधिक भू-राजस्व की वसूली करने में सहायता के लिये राजस्व बटालियनें खड़ी कर दीं, क्योंकि राजस्व की वसूली करना सरल कार्य नहीं रह गया था। इसका कारण यह भी था कि एक दशक या उससे भी कम समय में इन्होंने भू-राजस्व को बढ़ाकर चार से पाँच गुना कर दिया था। बंगाल प्रैसीडेन्सी में अधिकांश जमीनदार सन् १७९३ के आसपास बने हुए थे। ये सन् १८०५ के आसपास तक दिवालिया घोषित हुए। इनकी जमींदारी की बोली लगाई गई। जिनकी बोली लगी वे जमींदार बन गए। कई दशकों तक आगे भी ये जमींदार दिवालिया घोषित होते रहे और उनकी जमींदारी की बोली लगती रही। लगभग सन् १८५० आते आते ब्रिटिशों द्वारा सृजित ये जमींदार समृद्ध होने लगे लेकिन उनके पूर्व के कष्टों का अतिरिक्त भार भी इन्हीं साधनहीन, असुरक्षित तथा अधभूखे निरीह किसानों पर ही पड़ा।

५.

एक बार ब्रिटिश शासक वर्ग ने ब्रिटन के निम्न स्तर के लोगों को पूर्ण रूप से अधीनस्थ बना दिया था (शायद ब्रिटिश जनसंख्या का ९०% तक हिस्सा); लगभग सन् १९०० तक स्थिति सुरक्षित रही और वैसी ही बनी रही। १६वीं शताब्दी से ही वे विश्व विजेता बन गए थे। उनकी दृष्टि में यह पूर्ण विजय थी। वे विजित क्षेत्र के तथा वहाँ रहनेवाले लोगों के स्वामी बन गए। वहाँ के लोग यदि इनकी अधीनता स्वीकार नहीं करते थे तो ये उन्हें गुलाम, कृषिदास या बंधुआ मजदूर बनाकर उनका उपयोग करते थे। अतः समय बीतते वे इनकी अधीतना स्वीकार कर लेते थे। यह केवल ब्रिटिश दृष्टिकोण या उद्देश्य नहीं था यद्यपि ब्रिटिशों ने इसे अंत तक इसे अपनाया था तथापि यह समग्र पश्चिमी यूरोप का एवं समस्त ईसाई लोगों का दृष्टिकोण एवं उद्देश्य था। अमेरिका के अधिकांश भागों में (३००-४०० वर्षों में), ऑस्ट्रेलिया में, न्यूझीलेंड में तथा अफ्रीका के कई क्षेत्रों में तथा कुछ दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में इसी को अपनाया गया था।

ब्रिटिश जानते थे अथवा उन्हें ब्रिटिश एवं यूरोपीय इतिहास के ज्ञान से पूर्वाभास हो गया था अथवा सन् १४९२ से आगे की यूरोपीय विजयों के परिणामों से भी वे

भलीभाँति अवगत थे कि विजितों की सभ्यता का नाश होता ही है। इसे वे अपरिहार्यता मानते थे। इस मान्यता के परिणाम स्वरूप ही उन्होंने 'योग्यतम का अस्तित्व' (Survival of the fittest) जैसी शब्दावली दी थी। इसे इस प्रकार का रंगरूप दिया गया जैसे प्रकृति का यही चरम सत्य हो। अतः इस प्रकार के दृष्टिकोण एवं विचारों के वशीभूत होकर ब्रिटिश शासक वर्ग ब्रिटेन की विजय के पश्चात् अधिकांश समाजों तथा भारत के लोगों को तहस नहस करके उनका सफाया करने तथा भारत में ब्रिटिश हकूमत एवं ब्रिटिश ढाँचे का सृजन करने के लिये प्रवृत्त हो गया था। एडिनवर्ग के प्रोफे. मैक्नोची तथा संभवतः अन्य विद्वान भी सन् १७८० के दशक के उनके स्मृतिपत्रों, पत्रों आदि में ऐसी प्रत्याशाओं का निहित होना मानते थे। उनकी इच्छा थी कि ऐसी विदेशी या अन्य प्रकार की सूचनाओं का संग्रह किया जाए जो कि भारत के उस समय के परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध हों क्योंकि ऐसी सामग्री एवं सूचनाएँ समय बीतने के पश्चात् उसके बारे में पता लगाने के लिए प्रामाणिक होती हैं।[१७] विविध प्रकार की सूचनाएँ संग्रहीत की गईं। बनारस में २५-३० वर्षों तक रहनेवाले कैप्टन बिलफोर्ड जैसे लोगों ने बनारस से ऐसी विदेशी सूचनाएँ संग्रहीत की थीं। तदुपरांत सन् १८०६ में बिलफोर्ड गवर्नर जनरल मिंटो को सूचित करनेवाले ही थे कि उन्हें बनारसी पंडितों ने अत्यधिक गुमराह कर दिया लेकिन उन्होंने अधिकांश रूप से जो कुछ ज्ञात किया था उसे सर विलियम जोंस ने कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी द्वारा 'एशियाटिक अनुसंधान' के रूप में पहले ही प्रकाशित कर दिया था। इनमें एक विदेशी कथा यह थी कि भारत के ब्रिटिश उपद्वीपों को भारतीय साहित्य में वर्णित 'श्वेत-द्वीप' के रूप में देखते हैं। उन्होंने इस जानकारी से लॉर्ड मिंटो को अवगत कराया तथा जानकारी दी कि सवाई मानसिंह इंडोनेशिया एवं अन्य दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों में कई बार गए थे।[१८] अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लम्बे समय तक चार्ल्स ग्रांट बंगाल में एक वरिष्ठ व्यापारी रहा। तथा बाद में कई बार ईस्ट इंडिया कंपनी का अध्यक्ष रहा; साथ ही उस समाचार लेखकों के संघ के प्रख्यात सदस्य भी रहे जिसके नेता विल्बरफोर्स, बड़ी संख्या में ईसाई मिशन, गवर्नर जनरल कॉर्नवालिस, शोरे आदि थे। भारत की न्यायिक अदालतों के कई न्यायाधीश विलियम विल्बरफोर्स.की सूचंनाओं के स्रोत थे। सन् १८१३ की ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में भारत के ईसाईकरण विषयक बहस हेतु जेम्स मिल के लिए कैप्टन बिलफोर्ड मुख्य स्रोत बन गए। उन्होंने बताया कि भारत में निकृष्ट कोटि की सभ्यता थी; तथा 'दोनों देशों' (भारत और चीन) में सभ्यतागत अनुकरण विद्यमान था। दोनों ही अन्वेषणगत दृष्टिकोण पूर्णतः त्रुटिपूर्ण थे।' मिलने आगे कहा कि भारतीय एवं चीनी दोनों ही पाखंडी, कपटी,

विश्वासघाती, मिथ्यावादी एवं समान रूप में इस दृष्टि से विकारग्रस्त हैं कि इन सभी के आधिक्य से वे एक-दूसरे को मात देते हैं तथा सामान्य दृष्टि से भी असभ्य समाज में समाविष्ट होते हैं।'[१९]

६.

चीन की ही भाँति तथा संभवतः अन्य दक्षिण पूर्व एशियाई देशों की भाँति भारत में भू-राजस्व की दरें कम थीं। ब्रिटिशों को ध्यान में आया कि दक्षिण भारत के कई जिलों में भूमि-कर बिल्कुल ही नहीं था।

जहाँ भारतीय कृषिभूमि के लगभग $^{१}/_{३}$ हिस्से पर ही प्राचीन समय से भूमि कर लिया जाता था। यह राजस्व सरकार के खाते में जमा नहीं किया जाता था। इस प्रकार का भूमिकर कुछ स्थानीय संस्थाओं - मंदिरों, मठों, स्थानीय ढाँचागत निकायों के व्यक्तियों तथा स्थानीय पुलिस एवं सैनिकी उद्देश्यों के लिए उपयोग में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अधिकांश क्षेत्रों में कुल उत्पादन का लगभग तीस प्रतिशत हिस्सा स्थानीय ढाँचे एवं व्यक्तियों (कुछ स्थानों पर ५० से ६०) को तथा क्षेत्र के बड़े-बड़े मठों, मंदिरों एवं स्थानीय मंदिरों को एवं जहाँ मुस्लिमों के धार्मिक स्थल थे उन्हें दिया जाता था।[२०] संयोग से, १७७० के दशक में बंगाल में ब्रिटिशों द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया कि ९०% भूमि का आवंटन हिन्दू संस्थाओं एवं व्यक्तियों को किया गया था जबकि केवल १०% आबंटन मुस्लिम संस्थाओं एवं व्यक्तियों को किया गया था।[२१] लगभग १२०० बाद से बंगाल में दीर्घ अवधि का इस्लामी शासन रहा परन्तु उनकी धार्मिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के लिए भूमि के आवंटन में सन् १२०० से पूर्व की भाँति ही बाद में भी कोई अन्तर नहीं दिखाई दिया। भारत के जगन्नाथपुरी एवं तिरुपति जैसे मंदिरों एवं कई प्रख्यात मठों को इस प्रकार से भूमि का आवंटन किया जाता रहा और पेशावर या नेपाल जैसे दूरसुदूर के क्षेत्रों में ऐसी भूमि पर फसलें ली जाती रहीं।

यद्यपि इस विषय में शोध की आवश्यकता अनुभव होती है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के कृषि के अतिरिक्त भाग, स्थानीय राजनीति तथा कुछ मठों, मंदिरों, सिंचाई कार्यों तथा ऐसे ही अन्य कार्यो पर किस प्रकार व्यय किया जाता था।

अनुभव किया जा सकता है कि भारत में किसी तानाशाह या राजा या विजेता की भारतीय भूमि या अन्य संसाधनों पर किसी भी प्रकार के स्वामित्व की संकल्पना का कोई उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। स्वामित्व स्थानीय समुदाय का था जो कि मध्यम एवं

शीर्षस्थ संस्थाओं को व्यय हेतु निश्चित मात्रा में अंश देते थे। जबकि समस्त प्राणी चाहे वे मानव हों या अन्य, अपनी आवश्यकता के अनुरूप भोजन प्राप्त करने का अधिकार रखते थे। मानव समाज में परिवारों को घर बनाकर रहने का अधिकार था। प्रत्येक प्रदेश में खेत के पास में घर बनाकर रहने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्राप्त था। उस पर उनका स्वयं का ही स्वामित्व होता था। यूरोप में सवामित्वभाव को सर्वाधिक अग्रताक्रम प्राप्त था। जबकि भारतमें राज्यव्यवस्था में उसका सर्वथा अभाव था।

भारतीय व्यवस्था की प्राथमिक ईकाई मुहल्ला, गाँव, कस्बे, नगर तता प्रत्येक क्षेत्र में इसके महानगर थे। इसके अतिरिक्त वाराणसी, प्रयाग, नवद्वीप, जगन्नाथपुरी, मदुरई, द्वारिका, कांचीपुरम् तथा अन्य कई मुख्य्य सांस्कृतिक एवं महानगरीय केन्द्र थे जोकि प्राचीनकाल में महान शासकों के शासन केन्द्र भी थे परन्तु इससे भी अधिक उच्च शिक्षा एवं ज्ञान के केन्द्र थे जिनसे भारत में ज्ञान की गंगा प्रवाहित होती थी। भारत में प्रभूत और श्रेष्ठ उत्पादन होता था। इन इलाकों में प्रत्येक में इसकी अपनी सरकार थी अर्थात् स्वशासन था जिसमें उस क्षेत्र में रहने वाले सभी वर्गो के लोगों का समावेश होता था। उनको अभिव्यक्ति का अधिकार होता था। इसका एक व्यापक ढाँचा होता था जो उस क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति का ख्याल रखता था। वह इलाका भी बड़े सांस्कृतिक, धार्मिक, एवं प्रशासनिक व्यक्तियों एवं संस्थाओं से जुड़ा होता था। कभी कभी तो बहुत दूरस्थ स्थानों के साथ भी ऐसे स्थान सम्बन्धित होते थे।

यह ढाँचा क्षेत्र के आकार के अनुरूप समुचित रूप से व्यापक हुआ करता था। इसके अन्तर्गत उस क्षेत्र के स्थानीय एवं बडे बडे मन्दिर एवं मठ आते थे। प्रत्येक इलाके में लगभग २०० घर होते थे। उनमें कवि, गायक, संगीतकार, नर्तक, मंदिर के पुजारी, ज्योतिषी, वैद्य, शिक्षक, पंडित, जल-पांडाल भंडारी, पंजीधारक, एवं लेखकार (दक्षिण भारत के कर्णम्), सेना के सदस्य, स्थानीय पुलिसकर्मी आदि के साथ ऐसे लोग भी रहते थे जो तकनीकी एवं आर्थिक सेवाओं से सम्बद्ध होते थे, सिंचाई का अनुरक्षण करनेवाले, लुहार, बढई, कुम्हार, धोबी तथा कुछ अन्य भी होते थे। इनमें अधिकांश के पास कुछ भूमि होती थी जिस पर या तो वे स्वयं खेती करते थे या फिर किसी दूसरे किसान को खेती करने के लिए दे देते थे। उसकी ऐवज में उन्हें अपना अंश मिल जाया करता था। व्यावहारिक रूप से उनमें सभी को कृषि उत्पादन का अपना हिस्सा प्राप्त होता था। ग्राम देवता को सर्वप्रथम अंश प्राप्त करने का अधिकार होता था। इस प्रकार के ढांचागत वितरण में सकल स्थानीय उत्पादन का लगभग ३०% अंश उपयोग में आता था।[१२] उसी इलाके में रहने वाले बुनकर, तेली, दुकानदार जैसे अन्य भी थे परन्तु वे

भूमि से प्राप्त उत्पादन से या फसल के वितरण से अपना हिस्सा प्राप्त नहीं करते थे। दक्षिण भारत में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्थिति ऐसी थी।

यहाँ ऐसे भी इलाके थे जिसके पास कृषि योग्य अधिक भूमि उपलब्ध नहीं थी। परन्तु उनके पास एकल या बहुल औद्योगिक गतिविधियाँ थीं। ऐसे इलाकों में बुनकरों की बस्तियाँ थीं। ऐसी ही एक चेन्नै कै चेंगलपट्टु में सन् १७७० में थी जिसमें बुनकरों के ४०० घर थे; तथा लुहारों, कुम्हारों (जगन्नाथपुरी के समीपवर्ती इलाके में अभी भी अपने पुराने कार्य में बड़ी संख्या में सन्नद्ध हैं), तेलियों के घर थे जो अन्य भी कई उद्योग धंधों में लगे हुए थे।

ऐसे ढाँचागत प्रबंधों के कारण ही उन्हें अपने उत्पादन का समुचित मात्रा में अंश प्राप्त होता था। ये इलाके सक्रिय, समृद्ध तथा आमोद प्रमोद के स्थानों के रूप में दिखाई देते थे। परन्तु ये सुव्यवस्थित रूप से संगठित होते थे। अपेक्षाकृत बड़े इलाके कई बार दो या तीन एवं इलाकों में संगठित होते थे। प्रत्येक मुख्य मुहल्ले में १० से १५ घर होते थे जिनमें से प्रत्येक में अपना तालाब या टैंक होता था, एक या एक से अधिक धर्मस्थान होते थे तथा आवश्यकतानुरूप अन्य सुखसुविधाएँ होती थीं। लोगों के ये आवास सामान्यरूप से व्यवसाय, कुल, जाति या सामान्य धार्मिक आस्था - श्रद्धा - विश्वासों के कारण एकदूसरे के पास हुआ करते थे। लेकिन इलाके का समुचय ही निकाय बनाता था, समेकित निर्णय लेता था तथा आधारभूत राजनीतितन्त्र को संगठित करता था। यह राजनीतितन्त्र आस पड़ोस के राजनीतितन्त्र से सम्बन्धित होता था और संभवतः महासागरीय वृत्त के रूप में संकल्पित राजनीतितन्त्र विषयक गांधीजी की कल्पना भी इसी पर आधारित हो।[२४] क्षेत्र में पड़ोसी के साथ राजनीतिक व्यवहार भी इसी नीति पर आधारित था। भारत में अन्य क्षेत्र भी इसी प्रकार से परस्पर मुक्त रूप से सम्बन्धित थे। इतने सुव्यवस्थित एवं सक्रिय राजनीतितन्त्र में साक्षरता एवं शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाना चाहिए था। ब्रिटिशों द्वारा अठारहवीं शताब्दी के अन्त में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस विषय से सम्बन्धित कई सर्वेक्षण किए गए तथा उनके सर्वेक्षणों के परिणामस्वरूप ये निष्कर्ष सामने आए कि विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने की आयु के एक तिहाई या एक चौथाई संख्या में बच्चे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे।[२५] विद्यालयों में बहुत कम लड़कियाँ जा रही थीं परन्तु मलबार में सन् १८२० के आसपास बड़ी संख्या में मुस्लिम लड़कियाँ विद्यालयो में पढ़ती थीं। ६० वर्ष पश्चात् सन् १८८० में उनकी संख्या में गिरावट आई और वह ५० प्रतिशत रह गई। अधिकांश लड़कियाँ घर में रहकर ही शिक्षा प्राप्त करती थीं।[२६] विद्यालय में सभी जातियों के

लडके पढ़ने के लिए आते थे। भारत के दक्षिणी जिलों में कुछ में तो लगभग आधी संख्या में बच्चे शूद्र जैसी निम्नजातियों के थे। समग्रतः, तमिल क्षेत्र में ७०% विद्यालय जानेवाले लड़के शूद्र और उससे भी निम्न श्रेणी के थे। केवल ३०% लड़के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं मुसलमान समुदाय के थे।[२७] सम्भव है कि ब्राह्मण आदि के अधिकांश लड़के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते थे जबकि शूद्र एवं उससे भी निम्न जाति के कई बच्चे अन्यान्य कारणों से विद्यालय नहीं जाते थे। शूद्र तथा उनसे निम्न वर्ग के लड़के बंगाल एवं बिहार के विद्यालयों में शिक्षा हेतु जाते थे। यद्यपि उनका अनुपात बहुत कम था। बंगाल एवं बिहार में बहुत से शिक्षक शूद्र से भी निम्न जातियों के थे।[२८]

इसके अतिरिक्त, विद्यालयों के साथ साथ महाविद्यालय भी थे। मद्रास प्रेसीडैन्सी (तमिलनाडु, तटीय आंध्रप्रदेश के जिले, कर्नाटक एवं मलबार के कुछ जिले) में इनकी संख्या सन् १८२० के आसपास १००० थी। इनमें लगभग २५० राजमहेन्द्री क्षेत्र में थे।[२९] इनमें शिक्षक एवं अध्येता बड़ी संख्या में ब्रह्मण ही थे। उनकी विशेषज्ञता विविध विषयों में थी। मद्रास प्रेसीडैन्सी में उच्च शिक्षा में विशेषज्ञता के संबंध में कोई ब्यौरा अभी उपलब्ध नहीं है। बंगाल एवं बिहार के सर्वेक्षण किए गए पाँच जिलों में २५२४ विशेषज्ञों में १४२४ व्याकरण के, ३७८ तर्कशास्त्र के, ३३६ विधि के, १२० साहित्य के, ८२ पुराण के, ७८ ज्योतिषशास्त्र के, १९ अलंकारशास्त्र के, १८ औषधि के, १३ वेद के, ५ तंत्र के, २ मीमांसा तथा १ सांख्य के थे।[३०] इसी प्रकार बंगाल में नवद्वीप उच्च शिक्षा का प्रख्यात केन्द्र था। यहाँ १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक कई हजार छात्र एवं सैंकडों शिक्षक थे।[३१]

लेकिन ब्रिटिशों द्वारा लगाए गए निष्ठुर लगान एवं उत्पीड़नों के कारण यह सब कुछ चरमराकर छिन्न विच्छिन्न होने लगा। यहां किया गया विवरण इस दौरान हुए विनाश को दर्शाता है। सन् १८२३ में ब्रिटिश जिलाधीश के रूप में कार्यरत बेल्लारी के जिलाधीश के अनुसार, शिक्षा की स्थिति अत्यंत दयनीय थी जिसका कारण विशेषरूप से यह था कि इस क्षेत्र का धन बाहर अन्य स्थानों पर ले जाया जाता था। परिणामतः यह क्षेत्र गरीब बन गया था। सरकार को लिखे अपने पत्र में उसने लिखा कि "मुझे खेद है कि इसे (उदाहरणार्थ - शिक्षा के गिरते स्तर के कारण व्यापक गरीबी की स्थिति) स्वाभाविक रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है परन्तु इससे देश घोर गरीबी की चपेट में आ जाएगा। उत्पादक वर्ग के आय के स्रोत विगत वर्षो में हमारे यूरोपीय उत्पादनों के प्रवेश के साथ पूर्ण रूप से समाप्त हो गए हैं, भारतीय कपास के वस्त्रों के स्थान पर यूरोपीय वस्त्र आ रहे हैं... देश की पूँजी स्थानीय सरकार के माध्यम से बाहर

स्थानान्तरित हो रही है। अंग्रेज अधिकारी इसे मनमाने ढंग से भारत से यूरोपीय देशों में भेज रहे हैं... यह तो उनका नित्यप्रति का कार्य बनकर रह गया है। पूँजी यहाँ से बाहर इस हद तक जा रही है कि राज्य के राजस्व को किसी कठोर कानून के अभाव में किसी भी तरह से वसूला नहीं जा सकता।[३२]

भारत में व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रतिष्ठा की भावना हमेशा अत्यंत उच्चस्तर की रही है। किसी समूह, इलाके या अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र विषयक किसी विषय पर चर्चा विचारणा करने तथा निर्णय लेने में संबंधित सभी लोगों को अपने विचार व्यक्त करने तथा उन्हें सुने जाने के अधिकार दिए गए थे। फ्रांसिस बछानन के अनुसार सन् १८०० के आसपास कर्नाटक - केरल क्षेत्र में भारतीयों को अपना मत सार्वजनिक रूप से देने की छूट थी। ऐसी चर्चाओं में विशेष रूप से संबंधित किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति होती थी, या सम्बन्धित व्यक्ति वहा चर्चा के दौरान नहीं होता था तो उस मामले पर तब तक कोई चर्चा नहीं की जाती थी जब तक वह व्यक्ति उपस्थित नहीं हो जाता था।[३३] राजाओं के राज्याभिषेक या राजनीतिक प्रमुखों के पदग्रहण समारोहों में उस क्षेत्र के समस्त समुदायों के लोगों का प्रतिनिधित्व होता था। राजस्थान में यह प्रथा अभी अभी तक विद्यमान थी। कहा जाता है कि सामाजिक एवं जातिगत ढाँचे में आज निम्न स्तर के समझे जानेवाले मीणा लोग राज्याभिषेक समारोह में अगुआई करते थे।

जिस प्रकार लोग राज्याभिषेक कर राजा को सिंहासन पर बिठाते थे उसी प्रकार राजा से जब वे निराश होते थे तो विरोध भी करते थे। वे असहयोग करना शुरू करते थे। इससे भी यदि राजा के व्यवहार में सुधार नहीं होता था तो विद्रोह करते और राजा को पदभ्रष्ट भी करते थे। उसके बाद अन्य व्यक्ति को राजसिंहान पर बिठाते थे। यह अन्य व्यक्ति सामान्य रूप से राजा के कुल का ही रहता था। राजा को अपने सिंहासन से पदभ्रष्ट करने की बात जेम्स मिल ने सन् १८३२ में ब्रिटिश संसद में अच्छी तरह प्रस्तुत की थी। ब्रिटिश संसद में भाषण करनेवाले तीन अधिकारियों में जेम्स मिल सब से अधिक ज्ञान एवं अनुभव सम्पन्न थे। सन् १८०० के आसपास भारत में कार्यरत अंग्रेज राजनीतिज्ञों के द्वारा भारत के राजाओं का किस प्रकार से नियमन और नियन्त्रण किया गया था और सन् १७४८ के बाद अपनी सुरक्षा के लिये उन्होंने अंग्रेजों के साथ किस प्रकार सन्धि और समझौते किये थे इसके प्रमाण जेम्स मिल ने ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत किये थे। उन्होंने यह भी कहा था कि भारत के राजाओं को अपनी प्रजा से भयमिश्रित सम्मान प्राप्त होता था। जब प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो जाती थी तब उन्हें पदच्युत करके अन्य किसी को सिंहासन पर बिठाती थी। परन्तु जैसे ही अंग्रेजों का

शासन स्थापित हुआ राजा अंग्रेजों के अधीन हो गये। प्रजा के पास अंग्रेजों का विरोध करने का कोई सटीक उपाय नहीं था। अतः यह परम्परा स्थगित हो गई।

केवल राजा के ही सम्बन्ध में इस प्रकार की कार्यवाही होती थी ऐसा नहीं था। व्यक्ति या समूह के साथ अन्याय होता था तब भी इस प्रकार की कार्यवाही या असहयोग किया जाता था। इस विरोध प्रदर्शन में विविध प्रकार के धरने, आमरण अनशन आदि विशेष रूप से किए जाते थे। इस प्रकार की एक प्रमुख घटना सन् १८१० - १८११ में वाराणसी एवं बिहार क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाए गए आवास कर के प्रति विरोध प्रदर्शन करने के लिए घटित हुई थी। सम्पूर्ण वाराणसी नगर दो तीन सप्ताह पूर्णतः बंद रहा। कहा जाता है कि वहाँ लगभग २,००,००० लोग धरने पर बैठे थे। इस धरने का असर इस हद तक हुआ कि मृतकों का अंतिम संस्कार भी नहीं किया जा सका था और मृतदेहों को गंगा में प्रवाहित किये गये थे। परन्तु उसमें लोगों की हार हुई। उसके बाद भी वाराणसी के ये लोग स्वैच्छिक रूप से कर देने के लिये सहमत नहीं हुए, उन्होंने अपनी संपत्ति ब्रिटिश सरकार के हाथों जब्त होने दी।[३५]

महात्मा गांधी ने सन् १९०९ में 'हिंद स्वराज' में इस प्रथा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार जब कभी भी लोग शासक से अत्यन्त असन्तुष्ट हो जाते थे तो वे उनके क्षेत्र को छोड़ देने की धमकी देते थे। इस धमकी का शासक पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता था और उसकी अक्ल ठिकाने आ जाती थी। वह उनके पास जाता था तथा उनसे समाधान कर लेता था। वहीं पर समस्या का निपटारा हो जाता था।[३६]

तत्कालीन भारत में उद्योग प्रचुर मात्रा में थे। सूती कपड़े के उद्योग के लिए भारत व्यापक रूप से प्रख्यात था (कताई, बुनाई, रँगाई, परिष्करण आदि) सामान्य उपयोग के वस्त्रों से लेकर विशिष्ट उद्देश्यों के वस्त्रों तक का निर्माण यहा होता था। साथ ही, यहाँ वास्तुशास्त्र के विशेषज्ञों जैसे उच्चदक्षता प्राप्त व्यावसायिक लोगों द्वारा प्रख्यात भवन निर्माण उद्योग था। इनमें ऐसे भी विशेषज्ञ थे जो तालाब एवं सिंचाई हेतु नहरें बनाते थे और उनका अनुरक्षण करते थे। ऐसे विशेषज्ञ भी थे जो सड़कों और नदियों की देखभाल करते थे। बंजारा समुदाय के महान बंजारे यहाँ थे जो गाड़ीवान का कार्य करते थे तथा परिवहन के कार्य में सन्नद्ध थे। उनके विषय में कहा जाता था कि वे सड़कों पर अपनी १०,००० गाडियों के कारवाँ के साथ कूँच करते थे। नदियों और समुद्र में नावें और जहाज चलते थे। ऐसे लोग भी थे जो इन नावों और पोतों का निर्माण करते थे। वे भी थे जो इन्हें नदियों एवं भारत के आसपास के समुद्र में तथा दक्षिण पूर्व एशिया से पूर्व एवं दक्षिण अफ्रीका तक चलाते थे।[३७]

भारत के अधिकांश भागों में अत्यंत प्राचीन काल से अत्यंत उत्कृष्ट कोटि के लोहे एवं इस्पात का उत्पादन होता था। सन् १७००-१८०० के आसपास यह विश्व में उत्कृष्ट कोटि का इस्पात था। नीदरलेंड एवं ब्रिटन जैसे दूरदराज के देश इसका आयात करते थे। विशिष्ट कार्यों में इसका उपयोग होता था। वास्तव में इसका उपयोग अपने कृषि विषयक प्रयोजन से औजारों का निर्माण करने में होता था, बड़े-बड़े भव्य मन्दिरों में एवं भव्य लोहस्तंभों के निर्माण में इसका उपयोग होता था जैसे कि एक लोह स्तंभ दिल्ली में है। हमारे लोहे एवं इस्पात का सन् १८०० के आसपास का संभावित रूप में वार्षिक उत्पादन लगभग २,००,००० टन था। इस प्रकार के लोहे एवं इस्पात का उत्पादन करनेवाली भट्ठियाँ व्यावहारिक रूप से भारत के सभी क्षेत्रों में देखने को मिलती थीं। लोह प्रगालक इन्हें स्वयं निर्मित करते थे। वे स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे लोह अयस्क का उपयोग करते थे, साथ ही, विशिष्ट वृक्षों से काठकोयला बनाया जाता था। इन भट्ठियों को एक स्थान से गाडी पर लादकर दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था।[३८]

सन् १८०० से पूर्व भी भारत में बीसियों बड़े और छोटे औद्योगिक एवं अन्य उत्पादन उद्यम थे। कई क्षेत्रों में तो इससे बहुत बाद तक ये कल-कारखाने चलते थे। सन् १७७० के आसपास ज्ञात हुआ था कि इलाहाबाद क्षेत्र में मानव साचित प्रक्रिया द्वारा पानी से बर्फ निर्मित की जाती थी। तब तक ब्रिटेन इसके विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ था। यूरोप को संभवतः मानव साचित बर्फ निर्मित करने की प्रक्रिया के संबंध में कुछ भी ज्ञान नहीं था। बंगाल सेना के ब्रिटिश मुख्य कमांडर ने लन्दन में ब्रिटिश रॉयल सोसाइटी को इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में ब्यौरेवार जानकारी भेजी थी। इन ब्यौरों का एडिनबर्ग में प्रोफ़े. ब्लैक द्वारा जाँच एवं विश्लेषण किया गया। सम्भवतः एडिनबर्ग इस प्रक्रिया को समझने वाला पहला मुख्य केन्द्र था। प्रोफ़े. ब्लैक जाँच एवं विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस भारतीय प्रक्रिया को प्रयोगशाला में भी किया जा सकता था।[३९] उन्होंने इसे प्रयोगशाला में करके इसकी पुष्टि भी की। शायद इसी प्रक्रिया से आगे चलकर शीतन, प्रशीतन के रूप में आधुनिक प्रशीतन प्रक्रिया की नींव पड़ी तथा आगे पेटेंट कराए जाने की प्रक्रिया भी हुई।

संयोग से, ऐसा लगता है कि भारत में पानी से बर्फ बनाने की प्रक्रिया (उसी तरह की या संभवतः उसके समान) सातवीं सदी में कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के समय में भी प्रचलन में थी। महाकवि बाण भट्ट ने अपनी रचना 'हर्षचरित' में इसका उल्लेख किया है।[४०]

ब्रिटिशों ने भारत के बारे में जो कुछ व्यर्थ का विवाद छेड़ा तथा विशेष रूप से 'ब्रिटिशकालीन भारत (British History of India १८१७) के इतिहासकार जेम्स मिल ने जैसी मनगढंत तस्वीर प्रस्तुत की, उसके बिल्कुल विपरीत स्थिति यह थी कि भारत उपचार में तथा शल्य चिकित्सा में अत्यंत प्रगत स्थिति में था। उसका प्रमाण मुख्य रूप से आयुर्वेद में तथा उसके परवर्ती क्षेत्रीय लौकिक संस्कृत के रूपान्तरों में देखने को मिलता है। प्राचीन ऋषि सुश्रुत के शिष्य अनेक प्रकार की शल्य चिकित्सा करते थे जिसमें बंगाल में (१७९०)[४१] आँख से मोतियाबिंद दूर करने के लिए की गई तथा नथुनों को सीधा करने तथा संभवतः अन्य मानव अंगों को दुरुस्त करने हेतु की गई शल्यचिकित्सा प्रमुख थी। नथुनों को शल्यचिकित्सा द्वारा सीधा करने की प्रक्रिया की जानकारी पूना से तथा सम्भवतः अन्य स्थानों से भी ब्रिटिश रॉयल सोसाइटी के पास पहुँची थी। उन्हें इस जानकारी से कुछ आश्चर्य और अविश्वास भी हुआ था। पर इस शल्यचिकित्सा का विस्तृत अध्ययन किया गया। सन् १८१० तक लन्दन के डॉ. कार्प इस भारतीय पद्धति के आधार पर नवीन प्लास्टिक शल्यचिकित्सा की तकनीक तैयार करने में समर्थ हो गए थे।[४२]

इस प्रकार ज्ञान, प्रक्रियाओं एवं तकनीकों के अनेक क्षेत्रों में भारत से निर्यात होकर ब्रिटेन में पहुचने के अनेकानेक उदाहरण होने चाहिए। १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के भारत से कुछ अन्य यूरोपीय क्षेत्रों में भी ये ज्ञानागार पहुँचे होंगे। टीकाकरण की प्रथा के सम्बन्ध में सन् १७३२ के आसपास प्रथमतः वर्णन भेजे गए, और बाद में सन् १७६५ में शल्यचिकित्सक श्री हॉलवेल द्वारा ब्रिटिश कॉलेज ऑफ फिजिशियंस को विवरण भेजे गये।[४३] ठीक इसी प्रकार भारतीय कृषि पद्धति के सम्बन्ध में यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों से लंदन को ब्यौरे भेजे गए थे। कुछ भारतीय औजारों, विशेष रूप से १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश कृषि उपस्करों में सुधार हेतु बुवाई हलों की जानकारी भेजी गई थी।[४४]

सन् १९३५ के आसपास एक डच विद्वान ने दावा किया कि १६वीं एवं १७वीं शताब्दी के यूरोपीय फर्नीचर का उत्स भारत है। उसने लंदन की बर्लिंगटन पत्रिका में इस विषय में कई लेख प्रकाशित किए थे। कई ब्रिटिश विद्वानों के बीच इस मुद्दे पर विवाद की स्थिति उपस्थित हो जाने पर पत्रिका ने अधिक राजनीतिक रवैया अपनाकर इस श्रेणी को प्रकाशित करना ही रोक दिया था।[४५] इस प्रकार के और भी अनेकानेक उदाहरण अवश्य ही रहे होंगे।

इस पुस्तक के पाठकों को यह जानकर अत्यंत आश्चर्य होगा कि विश्वव्यापी

औद्योगिक उत्पादन विषयक अद्यतन अनुमानों के अनुसार सन् १७५० के आसपास विश्व के कुल उत्पादन का ७३% हिस्सा चीन एवं भारत में उत्पादित किया जाता था। सन् १८२० के आसपास भी ये दो क्षेत्र विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग ६०% निर्माण करते थे।[४५(अ)]

लेकिन ज्ञान, प्रक्रियाओं एवं तकनीकों का एशिया के क्षेत्रों से इस प्रकार से यूरोप में आयातित किया जाना कोई नई बात नहीं थी। इस प्रकार के अधिकांश आधारभूत ज्ञान तथा तकनीकी यूरोप एव ब्रिटेन में ११वीं एवं १२वीं शताब्दी में चीन एवं अरब देशों से आयातित की गई जिसका वे आज भी स्वीकार करते हैं। आधुनिक युग की अग्रदूत चार वस्तुएँ - समुद्रीय दिक्सचूक, कागज़, मुद्रण प्रक्रिया एवं गोला-बारूद बनाने के लिए उपयोगी सामग्री यूरोप में १२-१३ वीं शताब्दी में चीन से पहुँचीं। इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं। १६-१७ वीं शताब्दी में चीन से यूरोप में और अधिक उच्च दुनियादारी की परिष्कृत वस्तुएँ पहुँचीं। ये वस्तुएँ चाहे डिजाइन की सामग्री विषयक थीं या भू - परिदृश्य विषयक या फिर बगीचों या भवनों आदि से सन्बन्धित थीं। परन्तु इनका यूरोप में अत्यधिक महत्त्व था। चीनी प्रशासनिकं प्रणाली, चीनी दार्शनिक एवं राजनीतिक संकल्पना विषयक ब्यौरों का उनके लिए अत्यंत महत्त्व था।

विगत कुछ दशकों में तथा विशेष रूप से केंब्रिज के प्रोफ़े. जोसेफ नीधम के महान कार्य समेत उनके सहयोगियों द्वारा 'चीन में विज्ञान एवं सभ्यता' (इसके कुछ खंड अब भी प्रकाशित होने वाले हैं) विषयक कार्यो के माध्यम से चीन विषयक अनेक विद्वानों के शोधकार्य के बाद इस पर से परदा उठा और यूरोपीय विद्वान इस तथ्य को स्वीकार करने लगे कि यूरोप ने सन् १८५० तक विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में जो कुछ प्राप्त किया था, वह सबकुछ चीन में बहुत ही पहले से, लगभग २००० वर्ष पूर्व, लगभग १५० ई. से था। चीन ने इस विज्ञान एवं तकनीकी को जिस प्रकार आधुनिक पश्चिम ने सन् १८५० के आसपास विकसित किया उस प्रकार से क्यों नहीं बढ़ाया, तथा उनकी आधारभूत सोच की भिन्नता को प्रस्तुत क्यों नहीं किया यह एक गहन प्रश्न है। विश्व की उत्पत्ति और उसके प्रयोजन को समझने की प्रवृत्ति में कैसे और कैसी भिन्नता होती है और विभिन्न सभ्यताएँ किन विभिन्न प्रकारों से जीवन की पूर्णता प्राप्त करते हैं इस प्रश्न के साथ ही उसका सम्बन्ध है। परन्तु इस तथ्य एवं तर्क को खुले एवं स्पष्ट रूप से स्वीकार न करना या उसकी ओर ध्यान नहीं देना ही विलियम विल्बरफोर्स, जेम्स मिल और मैकाले जैसे लोगों के लिये स्वाभाविक है।

ब्रिटेन या अन्य यूरोपीय देशों द्वारा भारत, चीन, अरब देशों या अन्य कहीं से

विविध विचारों एवं तकनीकी को ग्रहण करना कोई गलत बात नहीं थी। गलत बात तो उनका ऋण स्वीकार न करना था। उस सब ग्रहीत ज्ञान को अपने ही देश के लोगों के दिमाग की उपज बताने के तर्क ढूंढना तथा यूरोप को ही उनका मूल स्रोत बताना सबसे अधिक गलत बात थी। फ्रांसिस बेकन तथा अन्योंने समुद्रीय दिक्सूचक, कागज़ आदि के सम्बन्ध में दावे प्रस्तुत किए थे कि ये सब उनके अपने आविष्कार थे, कहीं से उधार नहीं लिए गए थे। यह तो बिल्कुल असत्य कथन था। वस्तुतः सभी ग्रहण करनेवाले, ग्रहित वस्तु का निरीक्षण - परीक्षण करते हैं, उसके प्राथमिक सिद्धांतों को आत्मसात् कर लेते हैं और उसके बाद उसको अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित एवं परिष्कृत करके समुचित रूप में उसका उपयोग किया करते हैं। इस बात से यूरोपीय एवं ब्रिटिश लोग भलीभाँति अवगत थे। हमारे अपने समय में भी जापानी एवं चीनी लोगों ने इस तथ्य को ठीक समझ लिया है। भारत में हम लोग अभी इस मुद्दे को इस दृष्टि से समझ नहीं पाए हैं। इसे हम तभी समज पाएँगे जब हम जान लेंगे कि कोई भी वस्तु जब हम कहीं से भी अपना लेते हैं तो वह हमारे लोगों के लिए तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसी रूप में समुचित रूप से उपयुक्त नहीं होती तथा थोड़े से परिवर्तन के साथ हमारे लोगों एवं समाज के लिए किसी विशिष्ट महत्त्व की हो सकती है। यह भी सम्भव है कि एशिया एवं अफ्रीका, कई अन्य समुदाय एवं देश इसी स्थिति में मात्र वस्तुओं के अनुकरणकर्ता एवं उपभोक्ता ही बने रहे हों, उन्होंने समुचित रूप से इस सिद्धांत को समझा ही न हो तथा ब्यौरे वार रूप में उन्होंने पद्धति बनाई ही न हो कि वे विश्व के अन्य लोगों से यांत्रिक रूप से क्या क्या ले सकते हैं तथा उसे कैसे अपने अनुरूप ढाल सकते हैं।

हाउस ऑफ कामंस की सन् १८१३ की बहस का प्रत्यक्ष संकेत यह था कि 'ब्रिटेन का यह कर्तव्य था कि वह भारत का ईसाईकरण करे'। बहस के अन्त में इस दिशा में कार्य करते हुए एक प्रस्ताव भी रखा गया था। परन्तु जैसा कि बहस के सार-संक्षेप से (अध्याय-१) तथा विल्बरफोर्स के दो लम्बे भाषणों से (अध्याय-२ एवं ३) देखा जा सकता है, इस बहस के मुख्य निष्कर्ष भारत की चरित्रहीनता, अज्ञान, अंधविश्वास एवं गरीबी की तस्वीर प्रस्तुत करने से सम्बन्धित थे। सम्भव है कि विल्बरफोर्स एवं बड़ी संख्या में उनके समर्थक वास्तव में भारत के रीति-रिवाजो एवं प्रथाओं से आतंकित हो गए थे। उन्होंने सोचा कि भारत का ईसाईकरण कर देने से भारत की स्थिति ठीक हो जाएगी। लेकिन मुझे लगता है कि भारत के ईसाईकरण की धारणा के पीछे उनकी कुटिल चाल थी। उनका मुख्य उद्देश्य इसे सार्वजनिक मुद्दा

बनाकर ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस से इसे न्यायसंगत सिद्ध करना और मान्यता प्राप्त करना था। वह उन भारतीय समाजों एवं संस्थाओं को वैध रूप से तहस-नहस करके नष्ट कर देना था जो उस समय तक अपना अस्तित्व बनाये रखे थीं और यदि कुछ नहीं किया गया तो आगामी वर्षो में और विकास के पथ पर अग्रसर होंगी। जो कुछ होना था उसे न्यायोचित एवं वैध ठहराने के लिए उन्हें भारत तथा उसके लोगों के विषय में अपनी इच्छा के अनुसार प्रस्तुतीकरण करना था। यदि कोई कहे कि भारत में सभ्यता थी तथा कुछ दशक पूर्व वह धन-धान्य से सम्पन्न था तथा उसमें समस्त आमोद-प्रमोद की समृद्धिशाली परम्परा मौजूद थी तो ब्रिटिशों की विजय और शासन ही नैतिक एवं अवैध सिद्ध हो जाता। यदि यह कहते कि भारत कुछ भिन्न ही तरह का था लेकिन सभ्यता से परिपूर्ण था (ऐसा भारत के कुछ क्षेत्रों के मुख्य विजेता तथा विजय के पश्चात् रणनीति तैयार करने वाले ये दो अधिष्ठाता - थॉमस मुनरो तथा अलैक्झेंडर वॉकर ने कहा था) वह ब्रिटिशों के हित में नहीं था। अतः उन्हें भारत की तस्वीर पर अपनी मंशा के अनुरूप कालिख पोतनी ही थी। इसी कार्य को कुछ वर्ष पश्चात् जेम्स मिल ने निष्ठुरता पूर्वक आगे बढ़ाया। उसके लिए भारतीय लोग ''वंचित, अज्ञानी या दरिद्र ही नहीं तो विश्वासघाती, पाखंडी, कपटी, मिथ्यावादी, अति दुर्गुणों की खान थे।'' मिल की पुस्तक 'ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास British History of India इस तरह से भारत की अत्यंत बिगड़ी हुई, विकृत एवं धूमिल छबि अधिक व्यापक एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करती थी। एक दशक के अंदर 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने अपने एक लम्बे लेख को संशोधित रूप में हाउस ऑफ कॉमंस की बहस एवं जेम्स मिल द्वारा प्रस्तुत की गई नई छबि पर आधारित नए रूप में प्रकाशित किया था।

तब से उनका यह धूमिल एवं विकृत छबि प्रस्तुत करने का काम और सरल हो गया। टी. बी. मैकॉले ने इस कार्य को अत्यंत मजाकिया एवं अत्युक्तिपूर्व ढंग से आगे बढ़ाया। उसने सन् १८३५ में भारतीय शिक्षा विषयक अपने विचार व्यक्त किए। गवर्नर जनरल ऐलन रो भारत में गजनी के समय से सोमनाथ के कथित दरवाजों को उनके पूर्वस्थान पर बनने देना चाहता था। उसकी बात को निराकृत करते हुए उस समय मेकाले ने कहा,

''मुझे खेद है कि हमने कभी कभी सही दिशा में जाने की बजाय विपरीत दिशा में जाने के ही प्रयास किए हैं। भारत में उच्च पदों पर आसीन कुछ अंग्रेज शायद ऐसा सोचते दिखाई देते हैं कि ऐसा एक ही धर्म है जो उदार नहीं है और वह शायद ईसाई धर्म है। वे प्रत्येक ईसाई मिशनरी को अत्यंत ईर्ष्या एवं घृणाभाव से देखते हैं। वे अत्यंत

पाशविक अपराध ढोते हैं। यदि हिन्दू अंधविश्वासों को इसमें शामिल करके गौर किया जाए तो वे दिन दहाड़े अपराधकर्मो में प्रवृत्त रहते हैं। बंगाल में हमारी सत्ता पूर्णतः स्थापित होने में आखिर और कितना समय लगेगा ? हमने सिविल मजिस्ट्रेट के रूप में अपने सामान्य कर्तव्य की भी अनदेखी की है। बचकानी हरकतों को नजरंदाज किया है। हमने अवास्तविक ईश्वर के मन्दिरों को सजाया है। हमने उनमें देवदासियों की व्यवस्था की है। हमने उनकी छबि पर मुलम्मा चढ़ाकर तथा उसे और अच्छा चित्रित करके प्रस्तुत किया है ताकि हमारी अज्ञानी प्रजा हमारी प्रति कृतज्ञ रहे। जिसके पहियों के नीचे आकर पागल सनकी भक्त प्रत्येक त्यौहार पर कुचलकर मर जाते हैं उस रथयात्रा के रथों की मरम्मत भी हमने कराई तथा उसे सजाया सँवारा भी। हमने धर्मस्थानों में पूजन करने के लिए गाने वाले तीर्थयात्रियों का आदर करते हुए उनके लिए पूर्ण सुरक्षा व्यवस्था की। हमने देवालयों में मूर्तियों पर नैवेद्य भी चढ़ाया। यह सब कुछ सोचा गया तथा आज भी ऐसा ही सब कुछ पूर्वाग्रहयुक्त कुछ आंग्ल - भारतीयों द्वारा गूढनीति के तहत सोचा जा रहा है। मैं मानता हूं कि इतनी हल्की, इतनी बेहूदगी भरी नीति कभी भी नहीं होनी चाहिए। हमें इससे आखिर मिला क्या है। हम जिनके समक्ष बड़ी ऊंची-ऊँची बातें करके अपनी डींग हांकते हैं, उनकी दृष्टि में इन सब कृत्यों ने हमें गिरा दिया हैं।' 'हमें उन्हे विश्वास दिलाना है कि हम ईसाईयत एवं गैर-ईसाईयत के बीच मतभेद को कोई महत्व नहीं देते। फिर भी कितनी भारी भिन्नता विद्यमान है ! साथ ही, मैं दिव्यता विषयक बातो में फंसने से बिल्कुल दूर रहना चाहता हूँ। मैं केवल एक राजनेता की दृष्टि से यह चिन्ता करते हुए इस विषय पर विचार करता हूं कि समाज के हित में नैतिकता एवं पार्थिवता को बढ़ावा मिले। इसे ध्यान में रखकर मैं कहता हूँ कि ब्राह्मणीय मूर्तिपूजा के समर्थन में एवं उस धर्म के असमर्थन में क्या हमें प्रवृत्त होना है जिसने न्याय दया, स्वतंत्रता, कला, विज्ञान, हितकारी सरकार एवं घरेलू सुखशांति की अभिवृद्धि में भरसक प्रयास किए हैं, गुलामी की जंजीरों से मुक्ति प्रदान की है, युद्ध के आतंक को निःशेष किया है, औरतों और नौकरों को साथियों एवं सहयोगियों का दर्जा दिया है, मानवता एवं सभ्यता के प्रति ऐसा व्यवहार करना क्या देशद्रोह की श्रेणी में आता है।'[४६]

इस प्रकार से यह उपलक्षित हो सकता है कि इन पाठों की मुख्य बहस भारत का ईसाईकरण या पश्चिमीकरण करने की वकालत न होकर भारत की अबतक की स्वच्छ एवं उच्च छबि को अब तक प्रस्तुत प्रतिदर्श के अनुसार अधोगति की ओर ले जाना था। अपनी इस मंशा की पूर्ति के लिए वे इसे पूर्णतः परिवर्तित करने के बजाय भय एवं दरिद्रता का वास्ता देकर उछाल रहे थे। अपनी इस कुचक्रयुक्त चाल में पश्चिम

पूर्णतः सफलता प्राप्त करता हुआ भी दिख रहा था। विल्बरफोर्स, जेम्स मिल एवं टी. बी. मैकॉले मूलरूप से अत्युक्ति पूर्ण भाषा का सहारा लेकर विश्व के लोगों की मानसिकता को ही परिवर्तित करने में नहीं जटे हुए थे अपितु, भारत के अभिजात लोगों के दिमाग में भी इन्हीं अनापशनाप तथ्यों को ठूंस रहे थे तथा ये उनके कुतर्कों से प्रभावित हो रहे थे। यह सब कुछ उनकी अपनी कपोलकल्पना की ही उपज था जो कि एक ओर तो भारत के स्वर्णिम अतीत को धूल - घूसरित करके विकृत रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से परिपूर्ण था तो दूसरी ओर हमारी एवं अन्य लोगों की दृष्टि में हमारे नवोन्मेष, प्रवर्तन, साहस, विश्वास में कमी को प्रस्तुत करना था।

पराजित होने तथा ब्रिटिश कूटनीति एवं शक्ति के अत्यंत भयभीत होने पर भी भारत के लोग विविध क्षेत्रों में ब्रिटिश हुकूमत के साथ प्रतिरोध या असहयोग व्यक्त कर रहे थे। नगरीय क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि कर्म से जुड़े लोग अधिक प्रतिकार कर रहे थे। जैसा कि १८१०-१८११ में बनारस, भागलपुर आदि में शहरी जनता ने जो कुछ कर दिखाया, सन् १८४० में नमक-कर में वृद्धि होने पर सूरत की जनता ने विरोध का स्वर व्यक्त किया उससे लगता था कि नगरीय जनता भी प्रतिकार करने में बिल्कुल भी पीछे नहीं थी। लेकिन ऐसे समस्त विरोध या प्रतिकार या तो पूर्णतः स्थानीय स्तर पर या फिर सीमित क्षेत्र तक ही सीमित रहे। ऐसी स्थिति में जब लोग ऐसे मामलों से परेशान हो जाया करते थे तो वे अत्यंत संवेदनशील होकर उग्र रूप में प्रतिकार करते थे, जैसा कि १८५७ - ५८ या १८८० एवं १८९० के दशकों में पशु हत्या विरोधी आंदोलन के दौरान हुआ था, या सन् १९०५ के स्वदेशी आंदोलन के समय हुआ था। ऐसे अवसरों पर वास्तव में पूर्णतः भारतीय बनकर प्रतिकार करते थे। लेकिन उनके ये समस्त विरोध ब्रिटिश सत्ता की नीति, सूझबूझ एवं घातक प्रवृत्ति के सामने संगठित रूप से अत्यंत असमान ही थे तथा सामना करने के लिए अपर्याप्त थे।

भारत के लोक जीवन में महात्मा गांधी के पदार्पण के साथ सन् १९१५ के बाद इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हो गया। वे शायद यूरोप एवं ब्रिटेन को भलीभांति समझते थे। उनकी रणनीतियों एवं संगठनात्मक क्षमताओं के सम्बन्ध में उन्हें उस समय या उस समय के बाद के किसी भारतीय व्यक्ति की तुलना में अधिक अच्छी जानकारी थी।

कदाचित् यह कहना सही होगा कि कुछ अन्य लोगों के साथ सन् १७५० के आसपास महाराष्ट्र के एडमिरल आंग्रे सन् १७५५ के आसपास बंगाल के अलीवर्दी खान तथा सन् १७७० के दशक के आसपास कर्नाटक क्षेत्र के हैदर अलीखान को यूरोपीय

एवं ब्रिटिशों के उद्देश्यो एवं रणनीति का पूरी तरह से भान हो गया था। लेकिन वे उनका ठीक तरह से प्रतिकार करने का मन नहीं बना पाए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी ने इस समस्या को भलीभाँति समझ लिया था। ब्रिटिशों की हुकूमत एवं रणनीति को प्रत्यक्ष रूप से चुनौती देने की बजाय भारत के अतीत में निहित क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पश्चिम की ब्रिटिश सत्ता की चुनौती को भारतीय जनता के मानस में रूपांतरित करने के व्यापक रूप में प्रयास किए तथा अपनी इस रणनीति के आधार को सुदृढ बनाते हुए वे इस दिशा में आगे बढे। उनके इस कार्य में उन्हें भारत के लोगों का भरपूर सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी के भारत लौटने से पूर्व भारत के राष्ट्रीय नेताओं और आम जनता के बीच सहज संप्रेषण का सर्वथा अभाव था। भारतीय नेता समय के साथ अपनी भारतीय जड़ों एवं भूमि से कटकर अलग थलग से पड़ गए थे तथा वे अपने ही लोगों के लिए पराए बने हुए थे। भारत की जनता एवं उनके नेता एक दूसरे की मंशा को सही तरह से समझ नहीं पाए थे।

गांधीजी ने इस विषय में भारत के लोगों को सचेत किया। लोगों को चापलूसी की भावना को सर्वथा छोड कर पूर्ण स्वतंत्रता एवं साहस से रहने के लिए प्रेरित किया। गांधीजी ने कहा कि मैंने वास्तवमें कोई जादू नहीं किया है बल्कि लोग स्वयं जिस बात को कहने में असमर्थ थे, मैंने उन्हें वाणी देने की तथा विचार करने की शक्ति दी है, उन्हें उससे अवगत कराया है।

सन् १९१९ के पश्चात् से जो राष्ट्रीय नेता उनके सहयोगी बने उन्होंने भारत की जनता एवं महात्मा गांधी के बीच इस संपर्कसूत्र का अनुभव किया था। फिर भी ऐसे अधिकांश नेता भारतीय लोगों के साथ तथा स्वयं भारतीय जड़ों के साथ जुड़े रहने में असमर्थ सिद्ध हुए। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित होने पर भी यूरोपीय विचारों एवं रीति रिवाजों के प्रति पूरी तरह से वे आकृष्ट रहे। भारत की छबि को विकृत करने की जो चेष्टा विलियम विल्बरफोर्स, जेम्स मिल एवं टी. बी. मैकॉले जैसे लोगों ने की, वह वरदान सिद्ध हुई। उनकी इस सोच को प्रस्तुत करके खूब लाभ उठाया गया। इसके बाद, कार्ल मार्क्स का भी इसी उद्देश्य के लिए भरपूर उपयोग किया गया। व्यावहारिक रूप के अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई संस्थाओं के माध्यम से जो लोग शिक्षित होकर निकले थे या फिर जिन लोगों को ब्रिटिश हुकूमत में थोड़े बहुत अधिकार प्राप्त हुए थे, जो समृद्ध बने थे, वे उस समय तक प्रौढ़ हो गए थे और वे मैकॉले की मानसिकता युक्त गोरे दिमाग वाले काले शिक्षित बन गए थे।

निम्नलिखित उद्धरण से लोगों की मानसिकता के रूपांतरित होने की बात और अधिक अच्छे ढंग से व्यक्त होती हुई दिखती है,

''मैं यह कभी भी नहीं सोचता कि तथाकथित अतीत का 'रामराज्य' अत्यंत श्रेष्ठ था और न मैं इसे वापस लाना ही चाहता हूँ। मेरा मानना है कि पश्चिमी या औद्योगिक सभ्यता द्वारा भारत को जीता जाना अवश्यंभावी है। बहुत से उद्योग तो कुछ रूपांतरण एवं परिवर्तन के बाद भारत पर छा जायेंगे। इनमें अधिकांश की बात न भी करें तो भी औद्योगीकरण का तो कोई सानी नहीं है। आपने औद्योगीकरण के कई प्रत्यक्ष दोषों की कटु आलोचना की है, और इसके गुणों की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया है। प्रत्येक व्यक्ति इन दोषों से अवगत है। आदर्श राज्य की क़ल्पना या सामाजिक सिद्धांतों के बलबूते पर उनसे छुटकारा पाने का प्रयास भी किया गया है। पश्चिम के अधिकांश चिन्तकों का मानना है कि ये दोष औद्योगीकरण के न होकर पूँजीवाद के हैं जो दूसरों के शोषण पर आधारित हैं।''

इसके पूर्व लेखक ने कहा था :

''मेरा मानना है कि आपने पाश्चात्य सभ्यता को असंगत ठहराकर भारी गलती की है। कई दोषों की ओर आपका ध्यान गया परन्तु गुणों की अनदेखी हुई है। आपने कहीं उल्लेख क़िया है कि भारत को पश्चिम से कुछ भी सीखना बाकी नहीं है, भारत पुरातन समय से ही ज्ञान की पराकाष्ठा पर अवस्थित है। मैं निश्चित रूप से आपके इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूँ।[४८]

उपर्युक्त कथन से यह समझ में नहीं आता है कि यह दृष्टिकोण भारत में ब्रिटिश प्रणाली की स्तुति हेतु है या फिर भारत के प्रति कट्टर रवैये के द्योतक है।

लेकिन पाठकों को यह जानकर दुःख एवं आश्चर्य होगा कि यह कथन पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा महात्मा गांधी को जनवरी, १९२८ में लिखे गए एक लम्बे पत्र से उद्धृत किया गया है। इसके तुरंत बाद, १९२९ के अन्त में पंडित जवाहरलाल नेहरू को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अध्यक्ष बना दिया गया। यद्यपि गांधीजी इसे अपने साप्ताहिक समाचार पत्र 'यंग इंडिया' में प्रकाशित करके या पंडित नेहरू के अनुकूल किसी भी समाचार पत्र में प्रकाशित करके लोगों के विचारों हेतु इसे प्रस्तुत करना चाहते थे, फिर भी इस पत्र को सार्वजनिक रूप नहीं दिया गया। पंडित नेहरू नहीं चाहते थे कि ऐसी कोई भी चीज प्रकाशित करके उसे सार्वजनिक किया जाए अतः उन्होंने गांधीजी को एक पत्र लिखकर इस संबंध में उन्हें सूचित किया। गांधीजी ने अपने जवाब में एक तार भेजकर उन्हें सूचित किया कि ''आपसे प्राप्त किसी भी सामग्री को प्रकाशित करने

की मंशा नहीं है''।[४१] लगभग १८ वर्ष पश्चात् ठीक इस प्रकार की परिस्थिति निर्माण हुई थी। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत कैसा होना चाहिए - इस सम्बन्ध में दृष्टिकोणों में अत्यंत विरोधाभास उभरकर सामने आया। पुनः पंडित नेहरू नहीं चाहते थे कि गांधीजी उनके दृष्टिकोण को व्यापक रूप में आम जनता के सम्मुख प्रस्तुत करें।

यह स्वाभाविक ही था। पश्चिम के प्रभाव में आकर, उसके रंगमें रंगकर जीने वाले 'काले अंग्रेजों' की संख्या सन् १९४५ में हजारों या लाखों तक पहुंच गई थी। ऐसे लोगों को भारत की जनता से सीधा सम्मुख होना पसन्द नहीं था। उनमें से अत्यंत सुसंस्कृत एवं देशभक्त पंडित नेहरू जैसे व्यक्ति के लिए भी भारत की स्वतन्त्रता के रूप, सरकार के ढाँचे तथा पुनर्निर्माण के ढंग के मुद्दे पर देश की जनता के साथ सीधी चर्चा करने से भयभीत होना भी स्वाभाविक ही था। वे अभी तक पश्चिमी पद्धति की योजना एवं प्रतिदर्श आदि में ही रचे-पचे थे। अपने समय में वे यूएसए के वास्तुविद् कर्नल आल्बर्ट मायर जैसे लोगों के अत्यंत निकट थे। उत्तरप्रदेश के इटावा पायलट विकास कार्यक्रम के प्रवर्तक भी थे। परिणाम स्वरूप सन् १९५२ में समुदाय विकास कार्यक्रम का ढाँचा दिल्ली द्वारा निर्देशित किया गया। मायर को लिखे पत्रों से ज्ञात होता है कि पंडित नेहरू को लगता था कि मायर भारत के गाँवों की आवश्यकताओं के विषय में महात्मा गांधी की अपेक्षा कहीं अधिक जानते थे।

पंडित नेहरू परस्पर विरोधाभासी उद्देश्य एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत करते रहे तो भी गांधीजी ने उनके दृष्टिकोण को तथा जिन लोगों के साथ पंडित नेहरू की विचारधारा मेल खाती थी उन पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगे श्रेष्ठ अभिजनों के विचारों को तथा ऐसे प्रशासकीय या सेना के अधिकारियों को लोगों के सम्मुख क्यों नहीं लाये ? यह एक अनबूझ पहेली है।कहा जाता है कि वे गांधी के चहेते थे अतः गांधीजी उनकी किसी भी बात को जनता के समक्ष प्रस्तुत करके उन्हें दुखी करना नहीं चाहते थे। वे उन्हें भारत के शिक्षित युवा वर्ग के प्रतिनिधि मानते थे। कदाचित् इसका मुख्य कारण यह रहा होगा कि गांधीजी भारत के सभी प्रकार की मानसिकता वाले लोगों को एक मंच पर लाना चाहते थे तथा इस हेतु उन्हें पश्चिमी रंग ढंग अधिक मुखर आभासित होते थे। उनके विचारों को अधिक नियंत्रित रूप में प्रस्तुत कर के निजी एवं राज्य के संसाधनों एवं संस्थाओं को नियंत्रित कर सकते थे तथा वे उनके प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश सत्ता के साथ उनके प्रवक्ता के रूप में भी कार्य कर सकते तथा वैचारिक मतभेद की स्थिति में भी वे किसी भी स्थिति में अपने मंच से हटकर ब्रिटिश मंच में शामिल होने के लिए किसी को भी जाने देने के लिए तैयार नहीं थे।

महात्मा गांधी इस बात के प्रति दृढ़निश्चित दिखते थे कि स्वतंत्रता के पश्चात् वे या भारत की जनता ऐसे लोगों को उनकी विदेशी मानसिकता से मुक्त होने के लिए विवश कर देगी। तब ऐसे लोग भारतीय परिस्थिति या समस्याओं के समाधान में अपने आपको लगा देंगे। लेकिन ऐसा लगता है कि उन्होंने वैश्विक ताकतों के दबाव को भलीभाँति आकलित नहीं किया था। पश्चिमी रंगढंग या मानसिकतावाले लोगों का तो उन्होंने शायद बिल्कुल भी आकलन नहीं किया था। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है यूएसए के राष्ट्रपति रूझवेल्ट ने भारत से पश्चिमी लीक पर रहकर आगे बढने हेतु अपेक्षा व्यक्त की थी। अन्य लोगों ने भी अपने अपने ढंग से अपनी अपनी मानसिकता के अनुरूप ढांचा सुझाया था लेकिन महात्मा गांधी नहीं होते तो उनके अनुयायी एवं शिक्षित लोगों तथा भारत के लोकजीवन से संबंधित समस्त लोगों ने अपनी समझ को डगमगा दिया होता तथा मार्क्सवादी ज्वार में या पाश्चात्य रंगढंग की आँधी में सभी बहकर इधर उधर निकल गए होते। भारत के लोग स्वतः अपने निजी जीवन में बड़ी ही त्वरित गति से लौट आए थे। उन पर व्यावहारिक रूप से किसी प्रकार का दवाब डाल पाना सम्भव नहीं हुआ था। ऐसा लगता है कि हममें से सभी में, बल्कि गांधीजी ने भी इस दवाब को समुचित रूप से आकलित नहीं किया था। यह दवाब आज भी विश्वशक्तियों के रूप में हमें अपने नियत पथ से विचलित करने का प्रयास कर ही रहा है। यदि हमने विश्व-राजनीति की प्रकृति के अनुरूप अपने आपको ढाला होता तथा बलवान की असीम इच्छा आकांक्षाओ की पूर्ति की होती तो हम अपने पथ के लिए अवश्य उत्तरदायी होते तथा उनके दबावों एवं अवरोधों को भी नकार देते। लेकिन सम्भवतः हमने ऐसा कुछ भी इसीलिए नहीं किया क्योंकि हम कम से कम दो शताब्दियों के राजनीतिक मामलों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में कई बार ऐसी फूट की स्थितियाँ निर्माण हुईं। सन् १९२३ - २५ में बर्केन्हेड प्रस्ताव के समय अधिकार क्षेत्र का दर्जा प्राप्त करने के लिए जब वे सी. के. दास एवं पं. मोतीलाल नेहरू के साथ चर्चा कर रहे थे तो महात्मा गांधी उसे असफल करने में लगे हुए थे; सन् १९४२ में जब रूस यूरोपीय भीषण युद्ध में ब्रिटन, फ्रांस, यूएसए तथा कुछ अन्य की तरफ होकर जुड़ गया था तब काँग्रेस में तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा वाले लोगों को लगा था कि उन्हें ब्रिटेन एवं रूस के पक्ष में इस युद्ध में जुड़ जाना चाहिए। इस में पुनः गांधीजी को साथ नहीं लिया गया था। और अन्ततः सन् १९४५-४६ के दौरान जब स्वतंत्रता के लिए समझौते होने की प्रक्रिया वास्तव में शुरू हुई थी तब भी ऐसा ही हुआ था। जून १९४६ के मध्य में

भारतीयों एवं ब्रिटिशरों के बीच समझौता भंग होता हुआ दिखने लगा था। लन्दन में ब्रिटिश नीतिनिर्धारकों ने सुझाव दिया था कि अंततः ब्रिटिश लोग तत्काल हिन्दू बहुल भारत को छोड़ देंगे (यथा - विंध्याचल के दक्षिण भारत में) परन्तु ब्रिटिश सेनाएँ पश्चिम एवं पूर्व (पंजाब एवं बंगाल) में रहेंगी। किसी प्रकार से ऐसा हुआ नहीं और चर्चा का दौर आगे बढा। परन्तु भारत को राजनीतिक दृष्टि से तत्काल पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के स्थान पर हम भारत का विभाजन करने देने पर सहमत हो गए। हमारे सम्मुख जो कुछ प्रस्ताव रखा गया तथा 'भारतः सत्ता का हस्तांतरण' के नाम पर ब्रिटिशों की शब्दावली में जो कुछ कहा गया था उस सब पर हम सहमत हो गए। यथा - हम अपनी यथापूर्व स्थिति यथावत् बनाए रखेंगे तथा व्यावहारिक रूप से हमने कम से कम कुछ समय के लिए तो यथापूर्व स्थिति को यथावत् बनाए भी रखा। भारत का मात्र एक विभाग समाप्त हुआ जो १८१३ में पादरियों से संबंधित विभाग था जिसमें आर्चबिशप, कई बिशप तथा एंग्लीकन चर्चों का एक व्यापक नेटवर्क था जो अन्य ईसाई संप्रदायों को वित्तीय एवं अन्य प्रकार की सहायता वितरित होती थी। ईसाई संस्थाओं के लिए पादरियों से संबंधित विभाग को बंद करने में कोई दिक्क्त नहीं हुई या कोई बड़ी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा लेकिन धीरे धीरे इसके विपरीत उनमें नई लहर पैदा हो गई तथा वे फूलने फलने लगे।

यह सब अपने आप तो हुआ नहीं। और यदि अपने आप हुआ भी होता तो भारतीयों के लिए कोई चिन्ता की बात नहीं होती। परन्तु इस एक साथ फूट पड़कर बाहर आने में यूरोपीय एवं अमेरिकी ईसाई संप्रदाय का बहुत बड़ा हाथ था। उसमें उनकी ईसाई संप्रदायगत धर्मपरायणता बिल्कुल नहीं थी। वे काली चमड़े वाले लोगों को ईसाई अंग्रेज या अमरीकी, या जर्मन या स्कैंडेनेवियन या ऐसे ही अन्य में रूपांतरित कर रहे थे। इस प्रकार के काले (हिन्दू) अंग्रेज एक नए शत्रु के रूप में उभर कर सामने आए। ये ऐसे लोग थे जिन्हें किसी भी खराब से खराब स्थिति में क्यों न रहना पड़े काले भारतीय अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त हो गया था। यह सब कुछ ठीक उसी तरह से था जिस प्रकार से भारत में अंग्रेज अब तक मुसलमानों का समर्थन करने का ढोंग करते आ रहे थे। उसी तरह का समर्थन इन्हें भी अब प्राप्त था।

अतः कार्य इतना विषम एवं दुरूह हो गया है। हमें ब्रिटेन द्वारा हम पर थोपी गई इस छबि से छुटाकारा प्राप्त करना है। इस व्यर्थ की थोपी हुई छबि को यथाशीघ्र उतार कर दूर फैंक देना है। इसे प्रभावी रूप से समाप्त कर देना है। जब हम ऐसा कर पाएँगे तभी भारत की छबि नूतन एवं श्रेष्ठ बनेगी। हमें इसे यथार्थ रूप में करना ही है। एक बार

यह सब कुछ होना आरंभ हो जाएगा तो हमारे लोगों को विश्वास दिलाया जा सकेगा कि भारत में सभी के लिए समानता की भावना है तथा सभी के साथ यहाँ न्याय होता है। समाज के सभी वर्गों को सम्मान के साथ रहने तथा संबंधित इलाके, क्षेत्र तथा समग्र राष्ट्र के प्रबंधन एवं पुनर्निर्माण में भागीदारी करने का पूरा का पूरा अधिकार है। यदि ऐसा होने लगता है तो हमारे काले अंग्रेज, चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान, ईसाई या किसी भी अन्य संप्रदाय के हों, बिना किसी भी आरक्षण के भारत की मुख्य धारा में आकर भागीदारी कर सकते हैं। तभी हम भारत में २०० वर्ष के अंग्रेजी शासन के दौरान डाली गई फूट की भावना तथा नैतिक दृष्टि से किए गए अवमूल्यन के दृष्टिकोण से सही मायने में छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं। तत्पश्चात् हम उनसे इस अवधि में प्राप्त भेटों को उन्हें वापस कर सकते हैं। मुम्बई के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड विलिंगडन ने सन् १९१५ में गांधीजी से कहा था कि भारत के लोगों को कुछ भी दिया जाए, वे उसे बड़ी आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। वे यह भी कहना नहीं जानते कि उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। बताया जाता है कि गांधीजी को उनकी इस बात से अत्यंत दुख पहुँचा था। उन्होंने बात के महत्त्व को समझा था। अब भी समय है। हमने इससे सीख प्राप्त कर ली है। अब हम ब्रिटिशों को उनकी उन सभी भेंटें वापस कर दें तभी सही शुरुआत हो सकती है।

संदर्भ

१. जेम्स मिल, इस ग्रंथ में पुनः प्रस्तुत, अध्याय ४

२. करेंट एंथ्रोपोलॉजी, खंड २, सं ४, अक्टू. १९६६, पृ. ३९५-४४९, एन. एफ. डोविन्स, आदिम अमेरिकी जनसंख्या की गणना'

३. जॉन बॉस्वैल : 'अजनबी लोगों की सहृदयता, अत्यंत प्राचीन काल से पुनर्जागरण काल तक पश्चिमी यूरोप में बच्चों को परित्यक्त कर दिया जाता था : विंटेज बुक्स, न्यूयॉक, १९९०, रूसो का उद्धरण पृ. ३ पर है। इस प्रथा के सम्बन्ध में कई अन्य ग्रंथों में भी संदर्भ मिलते हैं।

३. अ. ब्रिटेन में मैं जिन जिन अभिलेखगारों मैं गया उन के नामों की सूची इस प्रकार है :

१. इंडिया ऑक्सफॉड लाइब्रेरी एवं अभिलेख

२. ब्रिटिश म्यूजियम (प्रकाशित ग्रंथ, समाचार पत्र, यूरोपीय एम एस एस)

३. पब्लिक रिकॉर्ड कार्यालय, लंदन

४. रॉयल सोसायटी, लंदन

५. रॉयल कला सोसायटी, लंदन

६. प्राकृतिक इतिहास विषयक ब्रिटिश संग्रहालय

७. स्कॉटिश रिकॉर्ड कार्यालय

८. एडिनबर्ग विश्वविद्यालय अभिलेखागार

९. स्कॉटलेंड का राष्ट्रीय ग्रंथालय
१०. वेल्स का राष्ट्रीय ग्रंथालय
११. बॉडलीन, ऑक्सफोर्ड
१२. नाटिंघम विश्वविद्यालय का अभिलेखागार
१३. जॉन रीलेंड्स ग्रंथालय, मानचेस्टर
१४. पेलियोग्राफी एवं डिप्लोमेटिक विभाग डरबन
१५. स्कूल ऑफ ऑरियंटल स्टडीज (?) लंदन
१६. अभिलेखागार, लीड्स पब्लिक युनिवर्सिटी
१७. अभिलेखागार, लीड्स युनिवर्सिटी
१८. अभिलेखागार, पब्लिक लाइब्रेरी, शैफील्ड
१९. निम्नलिखित कांटी अभिलेखागार :
१९. बेडफॉर्ड, २०. लिंकन, २१. श्रुसवरी, २२. टॉन्टन, २३. न्यू कैसल, २४. नार्थ एलर्टन

४. मेषचर्म को छाँटकर अलग करने के लिए पहले इस शब्दावली का उपयोग किया जाता था। विगत कुछ दशकों में यह शब्दावली मानव के लिए भी उपयोग की जाने लगी। इस शब्द को उपयोग की दृष्टि से तीन समूहों में विभक्त किया जाता है : प्रथम समूह में वे आते हैं जो स्वयं प्रबंध कर सकते हैं (सम्भवतः यह यूरोप एवं अमेरिका के अधिकांश लोगों पर लागू होता है); द्वितीय में वे आते हैं जिनकी अधिक मदद नहीं की जा सकती (अतः इससे उपलक्षित होता है कि उन्हें अनुमत किया जा सकता है या उन्हें विलुप्त होने दिया जा सकता है) तथा तृतीय में वे आते हैं जिन्हें सामान्य मदद करके बचाया जा सकता है। सन् १९७० के दशक के अंत में ऐसी अफवाह फैली थी कि ३०-४० वर्ष पूर्व भारतीय योजना आयोग ने ऐसी सापेक्ष योजना का ढाँचा तैयार किया था जिसमें कहा गया था कि भारत के २०% लोगों की मदद किसी भी तरह से की ही नहीं जा सकती। विगत २० या अधिक वर्षो में घटनाओं के इस तरह से मोड़ लेने से ऐसा लगता है कि दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के अधिकांश लोग, अफ्रीका के अधिकांश भाग तथा अन्य वंचित एवं गरीबी से पीड़ित क्षेत्र उन लोगों को अत्यंत खर्चीले लगते हैं जो आधुनिक विश्व मामलों का प्रबंधन करते हैं। विभिन्न अद्यतन विश्वकोषों का भी अवलोकन करें; जीएआईएल. डब्लयू, फिंस्टरबुश मानव एवं भूमि : उनके परिवर्तित सम्बन्ध' को भी देखें; बीओबीबीएस, मेरिल, इंडियन पोलिसी, १९७७.

५. बी.एल. वारेन हेस्टिंग्स के शोधपत्र, एड एम. एस. एफएफ. एचआर - ४० आरः ९६ आर को भी देखें जिसमें वारेन हेस्टिंग्स ने १७७३ के आरंभिक समय में कहा था, 'चाकरन जमीन के पुनरारंभ या चोरों-डकैतों से गाँवों एवं बड़े जिलों की रक्षा करने की सेवा की ऐवज में थानेदारों और प्यादाओं को जमीन आवंटित करना। इस तरह से बहुत से लोगों की आजीविका छिन जाने की वजह से वे डाकू बन गए थे।'' १८८० के दशक में वायसराय डफरिन ने बर्मा के संदर्भ में अपने पिता से व्याख्या करते हुए डकैत शब्द को स्वतंत्रता सेनानियों के समकक्ष रूप में प्रयुक्त किया था।

६. बी.एल (सं. १४७७९ अः) बादशाह औरंगझेब अपने पुत्र, पौत्र आदि के नाम पत्र, अनुवादक - जे. अर्लस, कलकत्ता, १७८८, पृ. /३०; अपने पौत्र को लिखित पत्र में औरंगजेब ने लिखा था कि जहाँगीर के राजकोष में कुल आय रु. ६०,००,००० थी जबकि उनका सरकारी व्यय रु. १,५०,००,००० था। उसने इस घाटे की प्रतिपूर्ति अकबर द्वारा छोड़े गए धन से की थी।

शाहजहाँ ने राजकोष की आय को रु. १,५०,००,००० तक पहुँचाया तथा व्यय पर अंकुश रख कर उसे रु. १००,००,००० तक किया।

७. हैदराबाद से मेडम उजरम्मा का १९९३ में व्यक्तिगत पत्राचार।

८. डव्ल्यू. फॉस्टर (संपा.) : सर थॉमस राव का भारत में राजदूतावास. १६१५ - १६१९, १९२६, पृ. ४७५ - ४८०.

९. बी. एल.; भारत विषयक ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस की पाँचवी रिपोर्ट, १८१२; बंगाल राजस्व बोर्ड कार्यवाही भी, १७९०, १७९२ ओआई एल में : पीं /५२/२३, पृ. ३७० - ८१; पी / ५२/४७, पृ. ६०१-१८.

१०. ओआई एल : फैक्टरी अभिलेख : जी/६/४, बर्दवान परिषद की कार्यवाही, २४-५-१७७५ वीरभूम पर श्री हिगिंसन। उन्होंने कहा था कि कृषकों द्वारा अदा किया जाने वाला लगान पहले ४-६ आना प्रति बीघा था जो कि ब्रिटिश शासन में बढ़ाकर १२ आना से एक रुपया या डेढ़ रुपया कर दिया गया। थॉमस मनरो के अनुसार - किसान को अपनी कृषि का ४५ प्रतिशत भाग मिलता था जो वास्तव में ३६ प्रतिशत ही मिल पाता था। (अनंतपुर, २५-८-१८०५)''

११. टीएनएसए : अत्यधिक राजस्व लिए जाने की वजह से सिंचाई युक्त भूमि पर भी खेती न किए जाने से संबंधित मद्रास राजस्व बोर्ड, मद्रास राजस्व परामर्श, ४-७-१८५४, पृ. ३८५४ - ४४९०; गवर्नर हैरिस का कार्यवृत्त, ''इस महाप्रांत की आनुपातिक भूमि का अत्यधिक उर्वर एवं उत्कृष्ट भाग बिना कृषि किए ही पड़ा रहने दिया जाता है तथा उस पर खेती नहीं की जाती और यह सबकुछ अत्यधिक लगान अदा न कर पाने की स्थिति में विवशतावश किया जाता है। अतः अनुवर्ती सुधारों की वहाँ अत्यंत जरूरत है क्योंकि यहाँ की जनसंख्या अपने जीवन की आवश्यक जरूरतों को भी पूरा नही कर पाती है।''

१२. टीएनएसए : मद्रास लोक परामर्श, अगस्त, १८५४ से आगे मद्रास महाप्रांत में उत्पीड़न विषयक अन्य रिपोर्टो में से एक रिपोर्ट; उत्पीड़न की प्रथा पर एक रिपोर्ट, हाउस ऑफ कॉमन्स के कागजात।

१३. नॉटिंघम विश्वविद्यालय : वेंटिक कागज़ात, पीडब्ल्यूजेबी ७२२ : बेंटिक द्वारा कैसलरीघ, भारत के मामलों पर आयुक्त - बोर्ड के अध्यक्ष को, १८-१०-१८०४

१४. टीएनएसए : मद्रास राजस्व बोर्ड का कार्यवृत्त, ५-१-१८१८, अनुच्छेद २८८. बाद में लंदन से आदेश प्राप्त हुआ था कि यह तथा अन्य अनुच्छेद इस कार्यवृत्त से निकाल दिए जाएँ।

१५. लीड्स पब्लिक लाइब्रेरी अभिलेखागार : लॉर्ड केनिंग के कागजात : विविध विषयों पर सेना सचिव के कागज़ात; सं. २८९ मेजर जी. टी. हेली द्वारा 'कुछ सुझाव'।

१६. बी. एल. : पंचम रिपोर्ट

१७. स्कॉटलेंड का राष्ट्रीय पुस्तकालय एम. एस. ५४६; स्कॉटिश रिकॉर्ड कार्यालय : जीडी ५१/३/ ६१७ प्रोफ़े. मेकनोची का भारत विषयक ज्ञापन, पत्राचार आदि।

१८. स्कॉटलेंड का राष्ट्रीय ग्रंथालय, मिंटो, पेपर्स, एम-१९१, केप्टन विलफॉर्ड द्वारा लॉर्ड मिंटो को, ३१-३-१८१३.

१९. जेम्स मिल, यहाँ अध्याय - ४ में पुनः प्रस्तुतीकरण।

२०. यह सूचना इस पर तथा निम्नलिखित खंडो पर आधारित है कि १७६०-१८३० के बीच के

आसपास की बंगाल, मद्रास, यू. पी. एवं अन्य क्षेत्रों के राजस्व विषयक अभिलेख, जिन में भारत के ग्रामीण इलाकों के संबंध में रिपोर्टे थी वे कैसे बदल गई, कैसे नष्ट हो गई। यह विशेष रूप से संकलित ब्यौरेवार सामग्री है जिसे अंग्रेजी में लिखा गया है तथा १७६७-१७७४ की अवधि में चेंगलपट्टु के जिलों में अवस्थित करीब २२०० इलाकों के सर्वेक्षण इसमें समाहित हैं। यह सामग्री मद्रास में तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार में रखी गई है। इन इलाकों के बारे में और अधिक विस्तृत ब्यौरे अब भी पामवृक्ष के पत्रों की हस्तप्रतियों पर लिखित रूप में उपलब्ध हैं जो तमिलनाडु में तंजावूर के तमिल विश्वविद्यालय में रखी गई हैं। इन आँकड़ों को चेन्नई के नीतिगत अध्ययन केन्द्र द्वारा हाल ही में प्रस्तुत एवं विश्लेषित किया गया है।

२१. बी.एल. : एड एम-एस २९०८६, २९०८७, २९०८८ जमीन लेखाओं, बाजी जमीन एवं चाकरण हस्तांतरण, १७७८ विषयक ब्यौरों पर रिपोर्ट है।

२२. टीएनएसए : तमिल विश्वविद्यालय, चेंगलपट्टु आँकड़े : अलैक्जेंडर डाल्रीम्पल के महत्त्वपूर्ण विवरण भी : कोरोमंडल तटवर्ती इलाके राजस्व प्राप्ति को गेंटूर पद्धति का एक संक्षिप्त लेखा जोखा, लंदन, १७८३.

२३. चेंगलपट्टु आँकड़े, संदर्भ सं. २० में उल्लिखित विवरण के अनुसार।

२४. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-८५, पृ. ३२-३४ शीर्षक 'स्वतंत्रता' गांधीजी ने इसमें अपनी महासागरीय वृत्त नीति का मूलरूप में खुलासा किया है।

२५. धर्मपाल : रमणीय वृक्ष : अठारहवीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा, बिब्लिया इम्पेक्स, १९८३, मद्रास, महाप्रांत के गवर्नर सर थॉमस मनरो का कार्यवृत्त, १०-३-१८२६, पृ. २४८.

२६. वही, पृ. ३७-४०, २४८

२७. वही, पृ. २०-२३

२८. वही, पृ. ३१५-३१९

२९. वही, पृ. २७-३२

३०. पीपीएस टी बुलेटिन, मद्रास सं. ७, जून, १९८४; एम.डी. श्रीनिवास एवं जी. एस. आर. कृष्णन द्वारा प्रस्तुत 'रमणीय वृक्ष' की समीक्षा, पृ. २०-६३, विषयवार उच्चतम विशेषज्ञ विद्वानों की संख्या पृ. ४९-५० पर।

३१. नवद्वीप बंगाल में स्थित उच्चशिक्षा का विविधविषयक प्राचीन केन्द्र था। यह केन्द्र १८वीं सदी के अंत तक कार्यरत था। श्री विलियम जोन्स ने तृतीय युनिवर्सिटी के रूप में इसका उल्लेख किया है। १७९० के दशक में ब्रिटेन में इसके बारे में काफी कुछ लिखा गया था।

३२. 'रमणीय वृक्ष : बेलारी के जिलाधीश का पत्र, १७-८-१८२३, पृ. १७८-१८९, पृ. १८२-८३, अनुच्छेद १८ से उद्धृत।

३३. फ्रांसिस बछानन : मैसूर, कनारा एवं मलबार क्षेत्रों से होते हुए मद्रास से एक यात्रा, ३ खंड, लंदन, १८०७, खंड-१, पृ. ३२२-२३

३४. बी. एल : हाउस ऑफ कॉमंस कागज़ात, १८३१-१८३२, खंड-१४, श्री जेम्स मिल का साक्ष्य।

३५. धर्मपाल : भारतीय परंपरा में असहयोग, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के कुछ दस्तावेजों के साथ, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९१७; पृ. ४४-४५, बनारस के जिलाधीश की रिपोर्ट, दिनांक २८-१२-१८११ जिसका विषय था - कर न भर पाने की स्थिति में होने वाले

लोगों से कर वसूल करके उन्हें सबक सिखाने के लिए उनकी संपत्ति को जब्त करने की अनुमति प्राप्त करना।''

३६. संपूर्ण गांधी वाङमय, खंड-१०, हिंद स्वराज, पृ. ६-६८ : असहयोग विषयक अंश पृ. ५१ पर है।

३७. सोल्वींस, लेस हिंदूज, ४ खंड; तथा अन्य भी।

३८. धर्मपाल : अठारहवीं शताब्दी में भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी : कुछ समकालीन यूरोपीय वृत्तांतों के साथ, इम्पैक्स इंडिया, दिल्ली, १९७१; ४९-५४, २१५-२१९, २२०-२४८, २४९ - २६३

३९. वही, १०९-१७३

४०. हर्षचरित : इस ग्रंथ में राजा को अत्यंत तेज ज्वर होने पर उनका ज्वर कम करने के लिए बर्फ के उपयोग करने का दो भिन्न भिन्न स्थानों पर उल्लेख मिलता है। यह स्थान कन्नौज था जो कि हिमालय से बहुत दूरी पर स्थित है।

४१. भा. सीर्या. पुस्त. : एमएसएस. यूरो. एफ/९५/I; कर्नल कीड द्वारा लिखित हुगाली नदी के पश्चिमी तट विषयक कुछ अभ्युक्तियों, एफएफ - एलआर; बी.एल.भी : एड एमएफ ३३९७९-३३९८०, ३५२६२; डॉ. एच. स्कॉट द्वारा सर जोसेफ बैंकस को लिखित।

४२. भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी : पृ. २७०, डॉ. जे. सी. कार्प अत्यंत महत्वपूर्ण रिपोर्ट : चेहरे को त्वचा से खोई हुई नाक की पुनः प्राप्ति के लिए दो सफलतापूर्वक किए गए ऑपरेशनों का लेखाजोखा, लंदन, १८१६, विशेषतः पृ. ३६-६३.

४३. वही, पृ. १४१-१४२, १४३-१६३

४४. वही, पृ. १७९-२०९, २१०-२१४.

४५. बर्लिंगटन पत्रिका, लंदन, विल्हेल्म स्लोमन्न द्वारा लिखित यूरोपीय फर्नीचर का भारतीय काल, खंड सितंबर, १९३४, पृ. ११३-१२६ अक्टू. १९३४, १५७-१७१; नवं. १९३४, २०१-२१४; दिसं. १९३४, २७३-२७९, २९६ (समीक्षा), खंड , जन. १९३५, पृ. २१-२६ (स्लोमन्न द्वारा प्रत्युत्तर); फरवरी, १९३५, ९४-९५ (समीक्षा जिसमें उल्लिखित था कि ''हम इसकी चर्चा पुनः अन्यत्र करेंगे'')

४५(अ) पॉल बैरोच : १७५० से १९८० के बीच अंतरराष्ट्रीय आर्थिक स्तर, यूरोपीयन आर्थिक इतिहास विषयक पत्रिका में खंड -११, सं. १, वसंत, १९८२, पृ. २६९-३३३, उत्पादन करने की सारिणी पृ. २७५ पर; अर्थशास्त्री, लन्दन।

४६. टी. बी. मैकॉले, १८४३, अध्याय ५ में उल्लिखित।

४७. सुशीला नैय्यर, बापू की कारावास - कहानी, हिंदी में, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, १९२८.

४८. संपूर्ण गांधी वांङ्मय, खंड-३५, परिशिष्ठ - १०, पृ. ५४०-५४४, जे. नेहरू द्वारा महात्मा गांधी को, जन. ११, १९२८.

४९. वही, पृ. ५४६.

१. भारत के ईसाईकरण पर ब्रिटिश चर्चा, १८१३

१.

जून - जुलाई, १८१३[१] में ब्रिटिश हाउस आफ कॉमंस में भारतीय जनता की नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के विषय में जोरशोर से चर्चा हुई थी। कहा जा सकता है कि ब्रिटिश - भारत संमिलन के २०० वर्षो में भारत में ब्रिटिश हित के महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर यह चर्चा हुई थी। ब्रिटिश संसद के कुछ थोड़े से सदस्यों के कुछ भिन्न दृष्टिकोण को छोड शेष चर्चा के फलस्वरूप जो चित्र उभरकर आया वह यह था कि भारत की जनता अपने धार्मिक अंधविश्वासों में आपादमस्तक डूबी हुई है, नैतिक एवं सामाजिक विपन्नता की दृष्टि से इसका अवमूल्यन हो चुका है '[२] साथ ही, यह भी कहा गया कि ''उनके दिमाग पूर्णतः असभ्य हैं''[३]; ''नैतिक दृष्टि से उनकी कोई सोच ही नहीं है''[४] वे इतनी हद तक कंजूस हैं कि सामान्यतः वे हृदयहीन हैं;'[५] 'वे अकर्मण्य हैं तथा पूर्णतः भोगविलासी हैं''[६] इसके साथ ही, ''वे निर्दयी एवं कायर तथा अक्खड एवं दीन-हीन हैं''[७], तथा ''वे धर्मभावनाशून्य एवं अंधविश्वासी हैं''[८], उनमें असभ्य जीवन के समस्त दुर्गुण मौजूद हैं'' इतना ही नहीं तो वे किसी भी गुण के रहित हैं।''[९] इस प्रकार यह चर्चा भारत के ईसाईकरण विषयक होने के बजाय भारत के लोगों के अंधकाराच्छन्न जीवन की तीव्र आलोचना करने हेतु ही थी।

२.

इस चर्चा में शब्दों का खेल खेलनेवाला मुख्य खिलाडी विलियम विल्बरफोर्स था जिसे बाद में विक्टोरियन युग का राष्ट्रपिता भी कहा गया था'। वह इस चर्चा में विश्व के संबंध में तथा विशेषतः गैरईसाई विश्व के संबंध में, ब्रिटिश लोगों की आम सहमति तथा विश्व में पुलिस की भूमिका अदा करने के संबंध में मुख्य रूप देने वाला माना गया।

''भारत के लोगों की उत्कृष्ट नैतिकता एवं ईमानदारी की भावना'' के दावे का

खंडन करने के लिए वह इस छाप को मिटाने के लिए ही प्रस्तुत नहीं हुआ अपितु उसने रॉबर्ट ऑर्मे, हॉलवेल, ल्यूक, स्क्रेफ्टॉन (१७६०), रॉबर्ट कलाइव, वेरेलेस्ट (१७६०) जॉन शॉरे (१७९०), ज्होन मैकफर्सन (१७८०), कार्नवालिस, जेम्स मैकिन्तोश (१८००), ब्रिटिश भारतीय न्यायालयों के न्यायाधीश, साथ ही बर्नियर एवं हेमरलेन[१०] के आधिकारिक विचारों का भी निरूपण किया।

आर्मे के अनुसार 'भारतीय लोग अपने समस्त मानवीय व्यवहार में धूर्त एवं कपटी थे'', हॉलवेल के अनुसार ''उनमें विश्वास एवं ईमानदारी का लेशमात्र भी अंश नहीं था'' तथा ''वे खतरनाक एवं धूर्त थे।'' रॉबर्ट क्लाइव ने उन्हें ''किसी भी वचन को निभाते हुए नहीं देखा।'' जॉन शॉरे ने उनकी चारित्रिक विशेषता बताते हुए उन्हें ''मानवता के विषय में मिथ्याभिमानी'' बताया तथा 'वे दगा, जालसाझी और कपट' में अत्यंत निष्णात थे । विल्बरफोर्स ने कहा कि कॉर्नवालिस ने न तो कभी उन पर भरोसा किया, न अपने विश्वासपात्र के रूप में कभी किसी भी हिंदू या मुसलमान को नोकर से ऊपर के किसी ओहदे पर रखा। शॉरे के लिए तो ''भारतीय लोगों में झूठ, चोरी, लूटपाट, अपहरण या हत्या तो जैसे अपराध की श्रेणी में गिने ही नहीं जाते थे' तथा जैसे 'यह राष्ट्र गुणों को पूरी तरह से बिसार ही चुका था।[११]'' इन सामान्य विशेषताओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए विल्बरफोर्स ने कहा, ''समग्रतः हम हिंदुस्तान के लोगों को अत्यंत दयनीय स्थिति में, पतित एवं भ्रष्ट, मानवजाति के रूप में कमजोर एवं नैतिक रूप से पतित मान सकते हैं; हठधर्मिता को वे अपना जैसे अधिकार ही समझते हैं; अपने द्वेषपूर्ण स्वभाव एवं लम्पट इच्छा-अभिलाषाओं द्वारा वे नियंत्रित हैं; तौरतरीकों की दृष्टि से वे अत्यंत भ्रष्ट एवं पतित हैं तथा समाज पर अपनी इस छाप को पूर्णतया बनाए रखते हैं। अपने इन दुर्गुणों के कारण ही दुखों में निमज्जित हैं; अतः इस तरह के देश के निवासियों के सहज लाभ के लिए वहाँ किसी भी प्रकार की खुशी लाना विशेष रूप से अहमियत रखता है।'[१२]

आम रूप से व्याप्त अप्रसन्नता की स्थिति को स्पष्ट करते हुए विल्बरफोर्स ने भारत की इस तरह की स्थिति के लिए यहाँ के नैतिक पतन को जिम्मेदार ठहराया। इस चर्चा में उसने लम्बे समय तक बोलते हुए (उसने आरंभ में भी भाषण दिया तथा अंत में भी वह बोला) भारत की स्थिति के संबंध में कई विशिष्ट रूप से गंभीर आरोप लगाए जिनमें बालिका हत्या [१३], सती प्रथा[१४] (उनके अनुसार केवल बंगालमें ही एक वर्ष में १०,००० स्त्रियों को जिंदा जलाया जाता था), स्त्रियों के संबंध में अत्यंत अपमानजनक एवं गर्हित भाषा का प्रयोग, तथा बहुविवाह प्रथा [१५], जगन्नाथपुरी[१६] में

मेंदिर के समारोह में एक वर्ष में १००,००० लोगों की स्वयं पहिए के नीचे आकर मृत्यु जैसे अत्यन्त खराब प्रदर्शनों का धार्मिक स्थानों पर घटित होना जो कि अत्यंत आघातजनक, हृदयविदारक रंगमंचीय मूकाभिनय मनोरंजन है'' तथा नाचने एवं खराब ढंग से प्रदर्शन करने''[१७] का अश्लीलता एवं क्रूरता के बीच भौतिक संबंध है''[१८], ''हिंदुओं की मूर्तिपूजा समारोह का यह अत्यंत घृणित एवं रक्तरंजित कर्मकांड है जिसमें उनका पूर्णतः जुगुप्साभाव भरा हुआ है,[१९]'' विल्बरफोर्स के अनुसार ''हिंदु देवताओं में पूर्णरूपेण कामुकता, अन्याय, धूर्तता एवं क्रूरता की राक्षसीवृत्ति निहित है।' संक्षेप में, ''उनकी धार्मिक प्रणाली एक अत्यंत घृणित प्रणाली है।''[२०] यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि भारत में सती प्रथा के अनुवर्ती सर्वेक्षणों से पता चला है कि यहाँ प्रतिवर्ष लगभग ५०० - ८०० विधवाओं को जिंदा जला दिया जाता है[२१]। १८२० के आसपास पुरी के प्रशासक ब्रिटिश कर्मचारियों के अनुसार पुरी में विगत दस या उससे भी अधिक वर्षो में पहिए के नीचे स्वयं कुचलकर किसी भी व्यक्ति की मृत्यु होने की सूचना प्राप्त नहीं हुई है।

३.

ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस के कई सदस्य श्री विल्बरफोर्स की बातों से पूर्ण रूप से असहमत थे। भारत में २० वर्षों से कार्यरत एक ब्रिटिश अधिकारी सर हेनरी मोंटगोमेरी ने कहा कि दक्षिण भारत के जिस भाग में उन्होंने सेवा की उसकी तुलना में लन्दन में १५०-२०० गुना अधिक संख्या में अपराध होते हैं। उसने अनुभव किया कि उनके हाउस ऑफ कॉमंस के सहयोगी सदस्यों के लिए यह अत्यंत अच्छी बात होगी कि वे लंदन की गलियों में रोज रात्रिमें बडी संख्या में देह-व्यवसाय में लिप्त महिलाओं को देखें तथा उनके चरित्र को सुधारें।[२३] श्री पी. मरे ने इस वादविवाद में प्रतिभागिता करते हुए कहा कि ''भारत के आदिवासियों की तुलना में अधिक पवित्र, अनुशासित एवं पुण्यवान लोग दुनिया में अन्यत्र नहीं मिलेंगे।''[२४] श्री लुशिंगटन ने कहा कि ''ऐसा जोर देकर कहा गया है कि भारत में साहित्य नैतिक पतन से युक्त है'' लेकिन ''उन्होंने इस प्रकार का साहित्य वहाँ कहीं भी नहीं देखा तथा इसके बिल्कुल विपरीत, इस देशकी जो भी पुस्तकें उन्होंने पढ़ी हैं, नैतिकता के संस्कार सर्वत्र भरे हुए हैं। उनके आमोद प्रमोद विषयक ग्रंथों में भी प्रायः नैतिकता को कभी भी दरकिनार नहीं किया जाता।''[२५]

श्री लुशिंगटन का विश्वास था कि ''हिंदुओं के खिलाफ परस्पर दाम्पत्य च्युति

का जो दोष मढ़ा गया है उसके संबंध में यथार्थ स्थिति यह है कि उनकी महिलाओं का चारित्रिक नैतिक स्तर हमारे यहाँ की महिलाओं से किसी भी हालत में कम नहीं है बल्कि महिलाओं में चारित्रिक गुणों की दृष्टि से हमारी अपेक्षा सामान्यतः बहुत अच्छा एवं ऊँचा है।'' श्री लुशिंगटन का विश्वास था कि चोरी और हत्याएँ भारत में सामान्य रूप से नहीं होतीं तथा यदि कुछ दुर्गुण उनमें हैं भी तो वे सरकार की देन हैं, उनका धर्म से कोई संबंध नहीं है।'' उन्होंने आगे कहा कि ''यदि हमें भी ऐसी ही स्थिति का सामना करना पडेगा तो मुझे संदेह है कि हम उनसे अच्छा निष्पादन नहीं कर पाएँगे।''[२६] श्री फॉर्ब्स एवं कई अन्य सदस्यों ने अनुभव किया कि भारत में ईसाईयत का प्रचार करने से अत्यधिक भयावह स्थिति निर्माण हो जाएगी क्योंकि भारत के लोग इसे अपने धर्म एवं रीति रिवाजों में हस्तक्षेप के रूप में लेंगे।[२७] सर टी. सुट्टोन ने अनुभव किया कि ''इससे भारत के लोग उत्तेजित होंगे और उनकी भावनाओं में तूफान आएगा जिससे आतंकपूर्ण स्थिति पैदा होगी।'' उनका विचार था कि यदि अधिक प्रकट एवं खुलेआम ईसाईयत के प्रचार प्रसार के विषय में विचार व्यक्त करने के प्रयत्न किए जाएँगे तो भारत के देशी लोग कहेंगे कि ''आपने हमसे हमारा क्षेत्र हथिया लिया, आपने हमारा अपना राजस्व जब्त कर लिया; हमारे देश को हमसे छीनकर भी आपको चैन नहीं मिला जो कि अब आप हमें हमारे धर्म से भी वंचित करने पर तुले हैं। लेकिन आप हमसे हमारा धर्म किसी भी हालत में नहीं छीन सकते और हमें विधर्मी नहीं बना सकते।''[२८]

श्री मार्श भी श्री विल्बरफोर्स की भाँति बहुत देर तक बोले[२९]। भारत में ईसाईयत का प्रचार करने संबंधित अनुच्छेद का विरोध किया। उन्हें लगा कि भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व एवं अनुरक्षण की अभी भी बहुत आवश्यकता है, कि एक दृढ़ प्रतिज्ञ घोषणा की जाए कि राजनीतिक प्रणाली चाहे कैसी भी हो देशी लोगों के धर्म पर आक्रमण नहीं होगा।''[३०] उन्होंने आगे कहा कि ''न कोई तर्क और न कोई इतिहास हमें अनुमति देता है कि हम किसी के पुरातन धर्म को नए धर्म में जबरन परिवर्तित कर दें।''[३१] उन्होंने विचार व्यक्त किए कि 'भारतीय रीति-रिवाज एवं धर्म' भारत में साम्राज्य का मुख्य आधार रहा है।''[३२] श्री मार्श ने कहा कि ''ड्रूयूइडों के धर्म को द्वीप (ब्रिटेन) से प्राचीन रोमन लोगों ने इसलिए उखाड दिया था क्यों कि उनके श्रद्धा विश्वास एवं आस्थाएँ अत्यंत उद्धत एवं जिद्दी प्रकृति की थीं। वे विजेता के शासन में परास्त होने पर भी उनकी पराधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे।''[३३] लेकिन उन्होंने तर्क प्रस्तुत किए कि ''ड्रयुइडों के अंधविश्वास अपने विजेता

के नागरिक एवं सैन्य शासन में आने के लिए प्रतिकार स्वरूप थे जबकि हिन्दू सहनशील और ब्रिटिश शासन के प्रति अप्रतिकारी रहे हैं।[३४]

४.

श्री विल्बरफोर्स भारत में ईसाई धर्म के प्रचार प्रचार को सर्वसम्मति से पारित कराने हेतु स्पष्ट रूप से तर्क दे कर अपनी बात को सिद्ध नहीं कर पाए। उनके लिए ''अब प्रश्न यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है'। वे अपनी बात पर दृढ़ थे कि 'यूरोप में ब्रिटिश हुकूमत का धर्म ईसाई है तब हमारे एशियाई उपनिवेशों में ब्रह्मा एवं विष्णु का धर्म नहीं चल सकता।''[३५]

स्पष्ट रूप से भारतीय धर्म एवं रीति रिवाजों की किसी भी तरह की प्रत्यक्ष तरफदारी से श्री विल्बरफोर्स चिढ़ गए। उन्हों ने पूछा कि ''क्या ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस, सभी अन्य स्थानों से परे है जहाँ इस तरह के धर्मसिद्धांत (भारत के धर्म एवं तौर-तरीकों की पक्षधरता) लागू होते हैं ? क्या हम मुक्त संविधान एवं धार्मिक स्वतंत्रता के मूल्यों के प्रति इतने कम संवेदनशील हो गए हैं, क्या हम उनके प्रति इतने कम कृतज्ञ हैं कि इस हद तक उन्हें (हिन्दू धर्म को) सह रहे हैं ? नहीं श्रीमान, मेरा विश्वास है कि हमारी भावनाओं को संरक्षित किया जाना चाहिए। किन्हीं भी ऐसी भ्रांतियों के प्रति हमें समझ विकसित किए बिना आगे नहीं बढ़ना चाहिए। नहीं, महोदय कम से कम इस देश में मानव की सहजबुद्धि का इतना घोर अपमान पहले कभी भी नहीं हुआ है। सत्य बात यह है कि हमने भारत के देशी लोगों की नैतिकता एवं तौर तरीकों को केवल अंधकाराच्छन्न एवं अवनत अंधविश्वासों में देखा था। ऐसा लगता है कि दीर्घ काल तक राजनीतिक गुलामी के अधीन रहते रहते वे इतने नम्र बन गये हैं।[३६]

५.

'भारत के लोग प्रबुद्ध, नैतिक एवं खुशहाल होंगे' यह दृष्टिकोण विल्बरफोर्स के लिए पूर्णतः कल्पनातीत ही था। अतः उस की वाणी में उत्तेजना बढती गई। भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग शिक्षित है, उनमें से अधिकांश लोग आर्थिक दृष्टि से धनी थे तथा सभी खुशहाल एवं सुरुचिसम्पन्न जीवन जी रहे थे यह उसके लिये विवाद का मुद्दा नहीं था। वास्तवमें, ईसाई हुए बिना इस प्रकार का जीवन उनके लिए उचित नहीं था। अतः उसे लगता था कि वे अवगुणों से भरपूर जीवन ही जी रहे थे। इसी कारण

से, विल्बरफोर्स ने सिद्धांतवादिता की धुन में धर्म या धर्म निरपेक्षता के नाम पर तर्क देने शुरू कर दिए थे। हमारे समय में इन्हीं बातों को यूरोपीय तर्कणावाद, पूँजीवाद तथा मार्क्सवाद एवं इस्लाम के नाम पर गैरईसाई, गैरइस्लामी दुनिया के खिलाफ इस तरह के फतवे जारी किए जाते थे। १९वीं शताब्दी के आरम्भ एवं मध्य भाग में, विल्बरफोर्स ने भी यही रणनीति अपनाई तथा जेम्स मिल, टी. बी. मैकॉले, कार्ल मार्क्स तथा अन्य जाने माने लोगों द्वारा भारतीय सभ्यता को निम्नस्तर का सिद्ध करने के निरन्तर प्रयास किये जाते रहे। इसी तर्कणापरक व्यापक रूप में छबि बिगाडने वाले और भी बहुत से उदाहरण होंगे।

विल्बरफोर्स ने अपना तर्क आगे बढाया। 'यदि अपने आधिपत्य में रहनेवाले पूर्वी भारत के लोगों के सिद्धान्त और नीतिमत्ता वास्तव में प्रशंसा के पात्र हैं और हमारे सिद्धान्त और नीतिमत्ता की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं तो यह तो विभिन्न देशों के और अतीत के विभिन्न कालखण्डों के अनुभव को गलत सिद्ध करने वाली बात होगी। ऐसा कौन सा देश है जिसके नैतिक रूप से पूर्ण अन्धकारग्रस्त, सिद्धान्तों एवं सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के विषय में तथा व्यवहार में अत्यन्त हीन, अत्यन्त दुष्ट एवं क्रूर होने पर ईसाइयत ने वहां प्रकाश नहीं फैलाया है ? क्या ग्रीस एवं रोम जैसे प्राचीन देशों के विषय में भी यह सत्य नहीं है ? क्या यह सत्य नहीं है कि उन उन देशों के ज्ञानी एवं श्रेष्ठ लोगों ने जिन बातों को मान्यता दी थी उनको ईसाई देशों में मृत्युदण्ड के पात्र माना गया ? परन्तु श्रीमान, क्या नैतिक बातों में हमारा निश्चित और शाश्वत प्रभाव नहीं है ? क्या यह अत्यन्त लज्जास्पद बात नहीं है कि अत्यन्त पुरातन काल से ही भारत के सभी राज्य राजनैतिक एवं धार्मिक ऐसे दुहरे बन्धनों में जकडकर कराह रहे थे ? और उसके बाद भी यह तर्क क्या प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है कि उनके नैतिक चरित्र का अधःपतन नहीं हुआ होगा ?'

६.

विलियम विल्बरफोर्स को हाउस ऑफ कॉमंस की १८१३ की ऐतिहासिक चर्चा में भारत में ईसाईयत के प्रचार प्रसार को बढ़ावा देने की बात को कार्यरूप देने के लिए २० वर्ष से भी अधिक समय लगा था। उसने २० वर्ष पूर्व सन् १७९३ में हाउस ऑफ कॉमंस के समक्ष यही मुद्दा इतने ही जोश से उठाया था परंन्तु उस समय उसकी उपेक्षा की गई थी। इस बीच, उसने ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों में शक्तिशाली आंदोलन चलाया था तथा ब्रिटेन के विभिन्न भागों से असंख्य याचिकाएँ प्रस्तुत

करवाकर इसे बढ़ावा दिया था। हाउस ऑफ कॉमंस की ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र वाले बृहत क्षेत्र भारत में ईसाईधर्म के प्रचार प्रसारार्थ कानून निर्माण करने तथा उसे अनुमोदित करने के लिए दवाब डाला था। लेकिन अपने देश के लोगों की विचार धारा से परिचित होने के कारण तथा उस समय की ब्रिटिश सरकार की इस कानून विषयक अनिश्चय की स्थिति को ध्यान में रखकर जून १८१३ की इस चर्चा के केवल तीन दिन पूर्व ही उसने ब्रिटिश संसद के अन्य प्रभावशाली सदस्यों को इस ईसाईकरण विषयक अनुच्छेद पर उनकी सहायता एवं समर्थन प्राप्त करने के लिए लिखा था। श्री व्हिटब्रेड को लिखे पत्र में उसने लिखा कि ''मैं अपने कुछ मित्रों को इस विषय पर असमंजस की स्थिति में देखता हूँ। उन्हें यथार्थ रूप में हमारी मदद की जरूरत है''। उसने आगे लिखा कि ''आप इस प्रश्न के महत्त्व से भलीभाँति अवगत हैं।''[३८]

संभवतः पिछली सरकार के प्रधानमंत्री पर्सीवल की हत्या हो गई और सन् १८१२ में लॉर्ड लिवरपूल नए प्रधानमंत्री बने। वे ईसाईकरण के विधेयक को पारित करने के पक्ष में अधिक उत्साहपूर्ण दिखते थे। भारत विषयक मामलों पर आयुक्तों के बोर्ड के अध्यक्ष को ३० दिसंबर १८११ को पत्र लिखते हुए (१७८४ में संसदीय अध्यादेश के तहत बोर्ड की स्थापना हुई थी। १७८४ से १८५० तक भारत में अधीनस्थ ब्रिटिश गवर्नरों को इस बोर्ड का पूर्ण अनुमोदन एवं ब्यौरेवार अनुमति प्राप्त करनी होती थी) पर्सीवल ने लिखा कि ''भारत में जो नरबलि दी जाती है उनका जिम्मा हमारा न हो इसलिए मैं आपको जगन्नाथ मंदिर की बलि के संबंध में कुछ बताना चाहता हूँ जिससे अवगत होकर आप और अधिक जानना चाहेंगे। बछ़ानन द्वारा प्रस्तुत सामग्री से जैसा कि मैं समझ पाया हूँ तथा यह अत्युक्तिपूर्ण भी हो सकता है लेकिन मेरा विचार है कि कुछ हद तक यह सही भी होगा। यह भव्य समारोह जगन्नाथ रथ यात्रा के रूप में होता है। यह मूर्तिपूजा के अंग के रूप में आयोजित किया जाता है। कुछ श्रद्धालु भक्त इस रथ के पहियों के नीचे अपने आप को समर्पित कर देते हैं और पहियों के नीचे जाकर कुचलकर मर जाते हैं। भक्तगण इसकी अत्यन्त सराहना करते हैं। इस दृश्य में सिविल एवं सेना मजिस्ट्रेटों की भी मौजूदगी होती है जो कि ऐसे समारोहों में शांति बनाए रखने के उद्देश्य से कानून व्यवस्था देखने के लिए उपस्थित होते हैं। हमारे अधिकारियों द्वारा इस अवसर पर एकत्रित राजस्व को भी इस भयंकर रथ की मरम्मत एवं अनुरक्षण के खर्च के नाम पर तथा इस रक्तरंजित कार्य को आगे बनाए रखने के लिए चुकाना पड़ता है। मैं इस अशोभनीय प्रतीकों एवं जघन्य नैतिकता के संबंध में कुछ भी नहीं कहना चाहता जिसे बार बार उत्तेजित एवं प्रोत्साहित किया

जाता है हालाँकि इसके बारे में संभवतः बहुत कुछ कहा जा सकता है। मैं मानव बलि के मुद्दे पर अत्यंत चिन्तित हूँ और इसे बहुत बड़ी राष्ट्रीय क्षति अनुभव करता हूँ। यदि मैं आपको इन के संबंध में अत्यधिक व्यग्रता के साथ समय रहते सूचित करूँ तो आप स्वयं इस संबंध में जानकारी मँगवाकर तथ्यों से और अधिक ढंग से अवगत हो सकेंगे। मुझे जैसा कि इस समय सूचित किया गया है उससे मेरी तो यही राय है कि मूर्तिपूजा के इस समारोह को हम जब तक मानव बलि रोकने के लिए भलीभाँति नियमित नहीं करते तब तक नीति की बात करना तो दूर, हम यह भी नहीं कह सकते कि बागडोर हमारे हाथ में है तथा हमारा इन प्रदेशों पर पूर्ण नियंत्रण है। हम इस तरह के जघन्य धार्मिक विधिविधानों को बंद नहीं कराते, लोगों को ऐसे समारोहों में शामिल होने से नहीं रोकते, विशेष रूप से जब तक ऐसे समारोहों को ताकत का उपयोग करके बंद नहीं कराते तब तक इन क्षेत्रों का नियन्त्रण हमारे हाथ में है, ऐसी बातें करना निरर्थक ही है।'' यदि सामान्य राजस्व में बढ़ोतरी होने की सम्भावना हो तो जगन्नाथपुरी जैसे धार्मिक स्थलों पर करों में वृद्धि करने की बात को भी पर्सीवल प्रतिकूल नहीं मानते थे। इससे पूर्व उनके द्वारा लिखे गए एक लम्बे पत्र में उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि यदि भारत में ब्रिटिश सरकार मूर्तिपूजा विषयक समारोहों पर कर लगा कर राजस्व प्राप्त करती है तो मूर्तिपूजागत समारोहों में वृद्धि होने से राजस्व में भी वृद्धि होगी और इससे हानि की क्षतिपूर्ति की जा सकेगी। यह हमारा कर्तव्य न होकर लक्ष्य होना चाहिए कि कंपनी के कर्मचारी ऐसे राजस्व के संग्रहण पर अपना पूर्ण प्रभाव रखें, इसे सभी स्थानों पर लागू करें और इसका विस्तार करें ताकि ऐसा करने से मूर्तिपूजागत उनके समारोहों एवं विधिविधानों में कमी आए।'' उन्होंने अनुभव किया कि भारत के धार्मिक विधि विधानों एवं रीति रिवाजों में हस्तक्षेप प्रत्येक मामले के अनुरूप ही होना चाहिए ताकि ऐसा लगे कि ब्रिटिश सरकार उनके धार्मिक मामलों में जानबूझकर हस्तक्षेप करने का उन्हें अधिकार दे रही है तथा भविष्य में भी वह ऐसे ही हस्तक्षेपों को और अधिक बढ़ावा देगी।''[३९]

इससे कोई भी यह अनुमान कर सकता है कि जिस तरह से विल्बरफोर्स ने व्हिटब्रैड का संर्पक किया था उसी तरह से न जाने अन्य कितने लोगों का संपर्क करके उन्हें अपने पक्ष में कर लिया होगा, और इस प्रकार लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए प्रचार करने से ब्रिटिश सरकार पर दबाव की स्थिति बनाए रखने की उसकी स्पष्ट मंशा थी। २२ जून १८१३ को इस विधेयक पर चर्चा आरंभ होने पर सरकारी प्रवक्ता लॉर्ड कैसलरीघ ने इसका पक्ष लेकर कहा था कि इस विधेयक में धार्मिक दृष्टि से लोगों

को अप्रतिबंधित एवं असंयमित करने के प्रति बलप्रयोग की व्यवस्था नहीं है "तथा विशेष रूप से इस तरह के अनियंत्रित प्रवेश करने देने से भारत में ब्रिटिश हुकूमत की सुरक्षा एवं शांति में संगति की स्थिति नहीं पैदा होगी। उसने आशा व्यक्त की कि इस अनुच्छेद पर 'सावधानी से एवं संतुलित रूप से चर्चा की जाए।"[४०]

विल्बरफोर्स अपने पक्ष में प्रचार करने के कारण तथा अपनी वाणी से लोगों को प्रभावित करने के कारण उस दिन के मतदान में विजयी रहा। उसके पक्ष में ८९ वोट पड़े तथा विपक्ष में केवल ३६ वोट पड़े।[४१] परन्तु आगे वोटिंग फिर कुछ नीचे गई। एक जुलाई को वोटिंग होने पर पक्षमें ५४ वोट पड़े और विपक्ष में ३२ वोट पड़े। चर्चा अत्यन्त ही कटु एवं उत्तेजना पूर्ण रही तथा ईसाईकरण का ज्वार पूरे जोश के साथ छाया रहा। इस समय व्हिटब्रैड खुलेआम विधेयक के पक्ष में खड़े हुए और पूछने लगे कि "यह ईसाई धर्मावलम्बी देश भारत में अपने धर्मसिद्धांतों को शपथपूर्वक क्यों त्याग रहा है ?" अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने कहा कि "(ईसाईकरण) का खतरा बढ़चढ़कर व्यक्त किया गया है तथा शत्रुओं ने गलती से इस विधेयक के हिंदू चरित्र को व्यक्त किया है।"[४३]

यह कार्यक्रम एवं लक्ष्य ईसाईकरण विषयक है अतः ध्यान रखना चाहिए कि धर्म द्वारा या बलप्रयोग द्वारा इसका अर्थ लिए जाने पर इस विधेयक के इस कार्यक्रम को इसी की शब्दावली में छद्मरूप से आच्छादित किया जाना समझा जाएगा "अतः ऐसे उपाय किए जाएँ ताकि इसे उपयोगी ज्ञान एवं धार्मिक एवं नैतिक सुधारों के तहत लागू किया हुआ समझा जाए।"[४४] इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करने के संदर्भ में सन् १८५० के पश्चात की भारत विषयक ब्रिटिश रिपोर्टों में यह कहा गया कि यह 'भारत के भौतिक एवं नैतिक सुधारों के लिए किया गया है।"

७.

इस विधेयक को तुरन्त ही नीतियों में शामिल कर लिया गया। इसके तहत ब्रिटिश शासन ने भारत में कोलकता, मद्रास, मुम्बई, इलाहाबाद तथा क्रमशः प्रांतों की राजधानियों में गिरजाघर संबंधी पादरियों के विभाग खोले। ये गिरजे विषयक पादिरयों के विभाग इससे पूर्व कार्यरत विभागों - सेना, राजस्व, या राजनीति के समानांतर, खोले गए थे। ये विभाग तब से निरंतर चालू रहे और १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने के समय के बाद तक इनका अस्तित्व बना हुआ था। गिरजाघर विषयक पादरियों के विभाग का कार्य भारत में इंग्लेंड को औपचारिक चर्च द्वारा स्थापित (सन् १८१६)

चर्चों की वित्तीय एवं प्रशासनिक दृष्टि से देखभाल करना तथा असंख्य ईसाई मिशनों को भारत में प्रवेश दिलाना और उनका क्षेत्र विस्तार करना था। उनका यह कार्य केवल ब्रिटेन की चर्चों के संबंध में ही नहीं करना था अपितु यूरोप एवं यूएसए की चर्चों के संबंध में भी करना था। इसके पश्चात ईसाई धर्म का प्रचार करने में 'धार्मिक तटस्थता' जैसी शब्दावली का उपयोग करने से किसी को कोई परहेज नहीं होगा तथा असंख्य ईसाई प्रतिष्ठानों को वित्तीय या नैतिक दृष्टि से सहयोग करने या ब्रिटिश भारतीय राष्ट्र में न्यायालय में भी किसी भी तरह की अपील प्रस्तुत करने से भी या फिर इस के प्रति विरोधवश किसी भी तरह की असहमति होने पर एवं गैर-ईसाई श्रद्धा एवं विश्वासों एवं धर्म के प्रति, जो भारत में ब्रिटिश शासन के बहुत पहले से विद्यमान हैं, भी कोई भी ऐतराज नहीं होगा।

जैसा कि १८१३ की चर्चा में बताया गया कि विजित भारत में ईसाई धर्म के प्रचार में तथा और भी कहीं पहले या इसके बाद के प्रचार में ब्रिटेन जैसे ईसाई धर्माबलंबी राज्य को कर्तव्य के रूप में कुछ भी संदेहों का आभास नहीं हुआ। वास्तव में, आज भी, ईसाई धर्माबलम्बी राज्य के रूप में औपचारिक रूप से अपनी पहचान जारी रखनेवाले ब्रिटेन को ही ऐसा आभास नहीं हुआ था अपितु यूएसए एवं यूरोप के अधिकांश वर्गों को भी यही ठीक लगा था।

तथापि, इस चर्चा का प्रत्यक्ष उद्देश्य भारत के ईसाईकरण के मुद्दे को उठाते हुए भारत के लोगों एवं उनकी संस्कृति को उपर्युक्त रूप में व्याख्यायित करते हुए भारत की विकृत एवं धूमिल छबि प्रस्तुत करना था। वाहवाही लूटने के लिए भारत की इस प्रकार की छवि प्रस्तुत करना आवश्यक था। चर्चा द्वारा उच्चस्तरीय वैधता एवं मान्यता प्राप्त करना उसका लक्ष्य था। अतः उसने भारत की छबि को विकृत करने में, यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति पर कीचड उछालने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ब्रिटिश सत्ता के दमन एवं लूटपाट की प्रवृत्ति ने भारतीय संस्थाओं को नेस्तनाबूद कर दिया। भारत के अभिजनों के दिमाग में भी भारत की ऐसी विकृत छबि भर दी कि वे भी ब्रिटिश शासन के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हें सहयोग करने लगे। भारत के लोगों पर उनके उत्पीड़न को मूक रूप से सहयोग देने में वे कठपुतली की तरह अपनी भूमिका निभाने लगे थे। यहाँ संभवतः इस बात का हवाला दिया जा सकता है कि जेम्स मिल (१८१७) एवं टी. बी. मैकॉले (१८३५, १८४३) इससे कुछ भिन्न उद्देश्यों को लेकर अपनी बातों को प्रस्तुत कर रहे थे। वह भी विलियम विल्बरफोर्स एवं उनकी मित्रमंडली के भारत विषयक प्रस्तुतीकरण के लिए एक शृंखला रूप ही था।

उसके पहले तथा बाद में इसी प्रकार के असंख्य प्रयास ब्रिटिश लोगों और महिलाओं ने बढ़चढ़कर किए। विल्बरफोर्स ने सन् १८१३ की चर्चा में जो कुछ कहा था वह भारत के लोगों की जैसे सर्वस्वीकृत छबि ही बन गया था। विगत १८५ वर्षों में इसकी बार बार पुनरावृत्ति की जाती रही।

सन्दर्भ

१. यह चर्चा कुल पाँच सत्रों में २२ जून, २८ जून, १ जुलाई, २ जुलाई तथा १२ जुलाई को हुई। १८१३ के 'हेन्सार्ड' में स्तंभ ८२७-८७३, ९२३-९५६, १०१७ - १०८२, १०९५-११०० एवं ११८४-११९६ में इस की रिपोर्ट मिलती है। क्योंकि विल्बरफोर्स के दो भाषण (स्तंभ ८३१-८७२, १०५१-१०७९) एवं मार्श के भाषण (स्तंभ १०१३-१०५१) उस समय अलग अलग प्रकाशित हुए थे तथा उनका पूरा रिपोर्ट किया गया था लेकिन इन्हें शब्दशः अभिलेखित नहीं किया गया था। अन्य भाषण भी सारसंक्षेप के रूप में ही दिखाई देते थे। इस चर्चा से पहले भारत चार्टर बिल १८१३ को रखा गया था जिसका अनुच्छेद - १३ भारत में ईसाईधर्म के प्रचार से संबंधित था जिसे ३ जून, १८१३ को (स्तंभ ५५५-५६३) प्रस्तुत किया गया था। इससे पूर्व लगातार २० वर्षों तक या उससे भी अधिक समय तक ब्रिटिश संसद तथा विविध अन्य ब्रिटिश सत्ताओं के समक्ष भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने तथा इस संबंध में सुविधाओं एवं विविध उपबंधों के किए जाने की माँगें प्रस्तुत की जाती रही थीं। कुछ याचिका तो इस चर्चा के तुरंत पहले प्रस्तुत की गई जिन्हें 'हेन्सार्ड' में १३ मई १८१३ (स्तंभ १०५-१०६), १८ मई १८१३ (स्तंभ - २३८-२३९) तथा ३ जून १८१३ (स्तंभ ५२८) में दिया गया है।
२. 'हेन्सार्ड' २२-६-१८१३, स्तंभ ८३४
३. वही, स्तंभ ८४८
४. वही, स्तंभ ८४८
५. वही, स्तंभ ८४८
६. वही, स्तंभ ८४८
७. वही, स्तंभ ८४८
८. वही, स्तंभ ८४८
९. वही, स्तंभ ८४८
१०. वही, स्तंभ ८४२-८५०
११. वही, स्तंभ ८४३-८४५
१२. वही, स्तंभ ८४५
१३. वही, स्तंभ ८५८
१४. वही, स्तंभ ८५९

१५. वही, स्तंभ, ८५८
१६. वही, स्तंभ, ८५८
१७. वही, स्तंभ, ८५९
१८. वही, स्तंभ, ८५८
१९. वही, स्तंभ, ८६२
२०. वही, स्तंभ, ८६४
२१. ब्रिटिश संसद के कागजात।
२२. बंगाल सरकार के पुरी क्षेत्र के आयुक्त।
२३. 'हेन्सार्ड' २२-६-१८१३, स्तंभ ८२९-३०
२४. वही, स्तंभ ८७२
२५. वही, २३-६-१८१३, स्तंभ ९४५
२६. वही, स्तंभ ९४६ - ९४७
२७. वही, २२-६-१८१३, स्तंभ ८७२
२८. वही, १-७-१८१३, स्तंभ १०१७-१८
२९. वही, १-७-१८१३, स्तंभ १०१३-१०५१
३०. वही, स्तंभ १०२७
३१. वही, स्तंभ १०२९
३२. वही, स्तंभ १०२९
३३. वही, स्तंभ १०३४
३४. वही, स्तंभ १०३५
३५. वही, १-७-१८१३, स्तंभ १०७९
३६. वही, २२-६-१८१३, संदर्भ ८४१
३७. वही, स्तंभ ८४० - ८४१
३८. राष्ट्रीय अभिलेख कार्यालय, बेडफॉर्ड (यू.के.) व्हिटब्रैड कागज़ात : डब्ल्यू १/५११६, डब्ल्यू. विल्बरफोर्स द्वारा श्री व्हिटब्रैड को १९ जून, १८१३
३९. ज्होन रीलैंड्स पुस्तकालय, मांचेस्टर, इंग्लैंड एमएस ६८४/१२६०/ए-ओ' पर्सीवल द्वारा मैलविल को, ३०-१२-१८११
४०. 'हेन्सार्ड', २२-६-१८१३, स्तंभ ८२७-८२८
४१. वही, स्तंभ ८७३
४२. वही, जुलाई, १८१३, स्तंभ - १०८२
४३. वही, स्तंभ १०८१
४४. वही, ३-६-१८१३, स्तंभ ५६२-३ अनुच्छेद-१३.

२. हाउस ऑफ कॉमंस में ब्रिटिश संसद का भारत के ईसाईकरण विषयक निर्णय

विलियम विल्बरफोर्स का भाषण, २२ जून १८१३

विल्बरफोर्स खडा हुआ और इस प्रकार बोलने लगा :

जिन सज्जन ने अभी अभी अपनी चिन्ताएँ और संवेदनाएँ कदाचित प्रथम बार संसद के सम्मुख प्रस्तुत की हैं उनका भाषण मैंने कुछ आनन्द से सुना।

मैं उन की प्रतिभा के प्रकटीकरण एवं सिद्धांतों के लिए उन्हें हृदयपूर्वक बधाई देता हूँ। मुझे विश्वास है कि वे इस सदन को तथा अपने देश को इस तरह के बहुमूल्य सुझाव देते रहेंगे। लेकिन मैं इस प्रश्न पर आपके समक्ष कुछ विशिष्ट और प्रत्यक्ष बहस प्रस्तुत करूंगा। मैं उनसे असहमति व्यक्त करने की अनुमति चाहूँगा। हमारे पादरियों को मिशनरियों के रूप में नियमित रूप से नियुक्त करने की मैं सलाह दूँगा। वास्तव में, इस समय स्थिति ही कुछ ऐसी बन गई है कि कोई भी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से मेरे सम्माननीय मित्र के समान विचार प्रकट कर सकता है। लेकिन इंग्लैंड की चर्च के धर्म सिद्धांत से मेरे स्वयं के सन्नद्ध होने के कारण तथा इसके गहन आशीर्वादों से पूरी तरह से अभिभूत होने के कारण हममें ऐसी हितकारी भावनाएँ व्याप्त हुई हैं जिन्हें हम अपनी अन्य प्रजा में संप्रेषित करने के इच्छुक हैं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि यह अत्यंत खेदजनक बात है, तथा रोमन कैथोलिक के बीच प्रोटेस्टेंट चर्चो की यह निन्दनीय स्थिति रही है कि उन्होंने गैरईसाई देशों में मतपरिवर्तन में बहुत कम रुचि दिखाई है। मैं इस अवसर पर अपने विचार घोषणा के रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इसके प्रति खेद प्रकट करना चाहिए कि हमारे उत्कृष्ट चर्च प्रतिष्ठानों ने गैरईसाई राष्ट्रों में ईसाई धर्म का उपदेश देने के इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उपयुक्त एजेंटों की भी व्यवस्था अभी तक नहीं की है और न ही उन्हें इस संवंध में कोई नवीन विचार ही सूझा है। इसके विपरीत, मैंने इसके संवंध में कई वर्ष

पूर्व अत्यंत आदरणीय एवं श्रद्धेय दो धर्माधिकारियों - कैंटरबरी के आर्कबिशप एवं लन्दन के बिशप से इस संबंध में चर्चा की थी। उन्होंने इसके पक्ष में अपने विचार व्यक्त किए थे जिसे मैंने उनके विचारार्थ प्रस्तुत किया था और व्यवस्था करने के लिए कहा था कि मिशनरियों के संबंध में एक सुनिश्चित अध्यादेश होना चाहिए जो कि विदेशों में चर्च के कार्यालयों को कार्य करने का अधिकार प्रदान करे। परन्तु चर्च को तरक्की देने या अपने अधिकार क्षेत्र की हुकूमत में पादरियों के रूप में उन्हें स्थानापन्न करने के लिए अभी तक सक्षम नहीं बनाया गया। यह स्पष्ट है कि उच्च सभ्यतावाले समुदायों में, जहाँ ईसाई धर्म सुस्थापित रूप में है, वहाँ अपने दायित्वों की प्रतिपूर्ति के लिए वांछित योग्यताएँ तथा गैरईसाई धर्मवाले देशों के लिए बाइबल के उपदेशों का प्रचार प्रसार करने की योग्यता में बिल्कुल भिन्नता ही होगी। हम इसे अनुभव भी कर सकते हैं। वे धर्म एवं नैतिकता विषयक प्रथम सिद्धांतों से पूर्णतः अनभिज्ञ ही होंगे। अतः हम अपने धार्मिक उपदेशकों के लिए इस तरह की योग्यताओं की अपेक्षा करें कि वे बर्बरतापूर्ण स्थिति में कार्य करने में सक्षम हों। इसके साथ ही वे अधिकाधिक उपेक्षाभाव एवं अनभिज्ञता की स्थिति का भी सामना करने के लिए सक्षम हों तथा उनकी सहवर्ती बुराइयों एवं दोषों को भी वे सही रूप में देख सकें। साथ ही, उन्हें शारीरिक रूप से अत्यंत कष्ट सहने होंगे तथा परेशानियों एवं तंगी का सामना करना होगा। लेकिन इस बिंदु पर पादरियों को नसीहत देना या अपने आदरणीय मित्र को सुझाव देना मेरा उद्देश्य बिल्कुल नहीं है। में जानता हूँ कि मैं यदि ऐसा करता हूं तो और लोगों को मेरी बात पर आपत्ति हो सकती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। परन्तु मैं चाहता हूं कि भारत में मिशनरियों को ईस्ट इन्डिया कंपनी द्वारा या सरकार द्वारा आधिकारिक रूप में नियुक्त किया जाए। उन्हें वहाँ पदस्थ किया जाए। मैं ने जो भी बात कही है उसमें हम तभी सही मायने में जीत हाँसिल कर सकते हैं जब हम इसे प्रत्येक ईसाई व्यक्ति के उत्साह एवं स्वैच्छिक हितैषिता पर इसे छोड़ दें; इसे सरकार की सूझबूझ एवं विवेक से यथार्थतः नियंत्रित करें तथा हमारे भारतीय क्षेत्रों में देशी लोगों को ईसाई धर्म सिद्धांतों के बारे में उपदेश देने व कार्य में उन्हें लगाएँ तथा मिशनरी इस बात को अच्छी तरह से समझें कि उनके पास अन्य कोई अधिकार नहीं होंगे तथा उन्हें किसी भी तरह का कोई कमीशन देश की शासक सत्ता से प्राप्त नहीं होगा।

महोदय, मुझे बोलने की अनुमति दें ताकि मैं तेरहवीं शताब्दी के प्रस्ताव की गलत धारणा के संबंध में स्पष्टीकरण दे सकूं जो कि सामान्य रूप से इस समय लागू

है, जिसमें व्यवस्था की गई है तथा नियंत्रण बोर्ड के रूप में उसके अनुसार ईसाई मिशनरियों को भारत में भेजने की अनुमति देने तथा वहां उस समय तक रहने की अनुमति देता है जब तक वे वहाँ शांतिपूर्ण एवं व्यवस्थित ढंग से कार्य करते हैं। इस प्रस्ताव का यह एक उद्देश्य है लेकिन मुख्य नहीं। मैं आपसे इस प्रस्ताव की शब्दावली के संबंध में पर्यवेक्षण करने का निवेदन करता हूँ। इसमें कहा गया है कि ''हम अपनी पूर्वी भारतीय हुकूमत की प्रजा के दिलोदिमाग को ज्ञानसम्पन्न और प्रबोधित करने का कार्य करेंगे।'' बहुत से ऐसे कार्य करने के पश्चात् मुझे यह घोषित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि उन्हें ज्ञानसम्पन्न करने तथा प्रबोधित करने में, शिक्षा एवं निर्देश देने की दृष्टि से, ज्ञान के प्रसारण के लिए विज्ञान की प्रगति से तथा विशेष रूप से पवित्र ग्रंथ का देशी भाषाओं में प्रचार प्रसार करके हम कुछ विशेष उद्देश्य भी सिद्ध करना चाहते हैं।

''देशी लोगों के दिलोदिमाग को प्रबोधित करते हुए उनके पूर्वाग्रहों के साथ छेड़छाड़ किए बिना उनके दोषों को समूल उखाड़ फैंकना चाहिए; यह बात असंभव ही होगी कि प्रबोधित दिलोदिमाग वाले अनुदेश प्राप्त लोग हिंदुस्तान के देशी लोगों के पहियों के नीचे कुचलकर मर जाने जैसी धार्मिक अंधविश्वासगत मूर्खताओं से बाहर निकलने तथा इन सबसे मुक्त होने में उनकी सहायता करेंगे। संक्षेप में, अपनी जानकारी के बिना ही वे ईसाई बन जाएँगे।''

जैसा कि मैंने अपने विरोधियों से हाल ही में जो कुछ सुना है उसके संबंध में आगे बढने से पूर्व मैं स्वयं इस सदन के सम्मान में प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि मैं उनकी भाँति अपने भारत विषयक व्यक्तिगत पर्यवेक्षणों के संबंध में बात नहीं कर सकता। मैं इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर बिना किसी प्रयास एवं सूचनाओं के उन्हें संबोधित करना नहीं चाहता। मेरा ध्यान इस विषय पर बहुत पहले से है। मैं इस विधेयक को भलीभाँति स्पष्ट करूँगा। मैं इस सदन को याद दिलाऊँगा कि मुझे १७९३ में प्रथम प्रस्तुत किए गये प्रस्ताव के प्रति शुरू से ही आदरभाव है। इसका प्रायः उल्लेख किया गया है। इसमें स्पष्ट प्रावधान है कि हमारी पूर्व भारतीय सहयोगी प्रजा को नैतिक सुधार के लिए उपयोगी ज्ञान से सम्पन्न बनाया जाए। यह प्रस्ताव ऐसा है जिस पर शायद ही किसी को कोई आपत्ति हो सकती है। इसे इस सदन का अनुमोदन कई बार प्राप्त हुआ है। मैं सत्यनिष्ठा के साथ घोषणा करता हूँ कि तब से मैंने इस महान उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा में कोई चूक नहीं की है हालांकि मेरे समक्ष विषम परिस्थितियां आती रही हैं। मैं उन्हें सदन के समक्ष प्रस्तुत करना नहीं चाहता; इन

सब से परे, मैं ने इस उद्देश्य के प्रति सन्नद्ध होने का पूरा पूरा प्रयास किया है।

मैं आगे कोई भी तर्क प्रस्तुत करूं इससे पूर्व मैं अन्य एक गलत धारणा के संबंध में भी इस सदन को स्पष्ट कर दूँ कि मतांतरण के कार्य में, मैं अनिवार्यता के समस्त विचारों का शपथपूर्वक त्याग करता हूँ। मैं सत्ता का उपयोग करने तथा सरकार के प्रभाव की बात को भी इस संबंध में नकारता हूँ। मुझे इसके साथ ही सत्य एवं न्यायप्रियता की सभी बातें पसंद हैं। ईसाई धर्म के सिद्धांत लोगों को अच्छे एवं सुखी बनाने की सीख देते हैं। इन सिद्धांतों की सर्वोत्कृष्टता के संबंध में मैं विशेषतः देशी लोगों के दिलोदिमाग को आज की तुलना में अधिक व्यापक एवं अनुदेशित रूप में उदार बनाने तथा उनकी देशी आस्थाओं एवं बेतुके अंधविश्वासों तथा राक्षसी प्रवृति के कृत्यों से उन्हें सुधारने हेतु प्रयास करने की बात कर रहा हूँ।

'महोदय, अब मैं बहस के मुद्दे पर आते हुए सदन को विश्वास दिलाता हूँ कि अभी तक ऐसी कोई प्रजा नहीं थी जिस पर ब्रिटिश संसद ने इतनी अधिक बहस की हो जितनी कि अब की जा रही है। ६० मिलियन लोगों की इतनी बड़ी जनसंख्या वाले, अनेक धर्मों वाले लोग हमारे शासन के क्षेत्र में आते हैं। वे लोग अपने धार्मिक अंधविश्वासों में इस हद तक डूबे हुए हैं कि वे नैतिक एवं सामाजिक विपन्नता एवं अवनति के गर्त में पहुँच गए हैं। क्या ऐसी स्थिति में हम ऐसा हर संभव प्रयास न करें तथा ऐसी भावना व्यक्त न करें जिससे मानव हृदय विचलित हो तथा वे अपनी इन विकृत मानसिक स्थितियों से बाहर निकलें तथा इससे भी बहुत आगे हम उन्हें यथार्थ स्थितियों से अवगत कराएँ जिससे उनकी समझने की शक्ति तो सुधरेगी ही, साथ ही उनके मस्तिष्क भी प्रबोधित होंगे। उन्हें सांसारिक रूप में उन्नत बनाने के हजारों तरीके हैं लेकिन हमें उन्हें असीम खुशी के पथ पर आगे प्रवृत्त करना है।

लेकिन हमारे विरोधी हमें विश्वासपूर्वक भरोसा दिलाएँगे कि हम कष्टों को दूर करने के लिए अपने समय से थोड़ा समय निकालेंगे; क्योंकि हिंदुस्तान के देशी लोग अपने धार्मिक विश्वासों एवं रीति रिवाजों में इस हद तक आपादमस्तक डूबे हुए हैं कि इस ओर वे उन्मुख होने के लिए तैयार नहीं होंगे। तथापि वे हमें चाहे कितने ही अतार्किक क्यों न मानें, हमें उनका बदलाव पूर्णतः अव्यावहारिक ही लगेगा।

महोदय, हम जिस बुराई को दूर करना चाह रहे हैं उसकी कठोर प्रकृति के संबंध में हम स्पष्ट रूप से कहना चाहते हैं कि उनकी धार्मिक प्रणाली एवं रीति रिवाजों में बहुत ही कम परिवर्तन आए हैं। हजारों वर्षों से ये ऐसे ही अपरिवर्तित रूप में चले आ रहे हैं; उन्होंने अपने श्रद्धा विश्वासों एवं आस्थाओं के रूप में स्वयं को इस कदर

ढाल दिया है कि उनका समग्र परिवेश एवं जीवन इसके अनुरूप ही ढल गया है। फिर भी इतना सब कुछ होते हुए भी, महोदय, मैं विश्वासपूर्वक जोर देकर कह सकता हूँ कि उनकी यह स्थिति तथा अपनी आस्थाओं के प्रति उनका दृढ़ीकरण इतना अधिक है कि उन्हें पूरी तरह से उनसे निजात दिला पाना अत्यंत कठिन कार्य है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। यह सर्वथा गलत है क्योंकि हाल ही के अनुभवों से तो इसकी पुष्टि नही होती। मैं सदन से अनुरोध करता हूँ कि इस बिंदु पर अधिक सतर्कता बरती जाए, क्योंकि इससे एक आम तथ्य सामने आ सकेगा तथा उन भद्र लोगों द्वारा इस सदन में तथा सदन के बाहर आख्यायित किए गए तथ्यों एवं राय का विश्वासपूर्वक आकलन किया जा सकेगा जो कि अपने व्यक्तिगत अनुभव का वास्ता देकर ऐसा कहते आए हैं। परन्तु उन्हें बहुत सरलता से गलत सिद्ध किया जा सकता है। वे भद्रलोग अपनी विवेकबुद्धि एवं समझ रखते हैं। उनमें सहज प्रतिभा एवं अर्जित ज्ञान है परन्तु वे पूर्वाग्रह से अत्यधिक ग्रस्त हैं।

महोदय, प्रथम तो मैं हिन्दुओं के धार्मिक रीतिरिवाजों एवं सिद्धांतों की पूर्ण अपराजेयता के खिलाफ अपनी दृढ़ धारणा प्रस्तुत करूँगा। विविध प्रकार के अत्यंत महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में उनकी विद्यमान प्रणाली में कई बड़े महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक सुधार किए गए हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात हैं उनको भी ये सुधार मान्य हैं। ये पहले उनके लिए उतने ही अपविरर्तनीय थे; क्यों कि उनका धर्म उसे मान्य नहीं करता है। जैसी कि मैंने पहले टिप्पणी की थी, उन्होंने इसे अत्यंत कलात्मक ढंग से आत्मसात किया हुआ है।

इस धारणा की पुष्टि हेतु यह बताना पर्याप्त होगा कि २० वर्ष पूर्व भारी परिवर्तन किए गए जिसके तहत ब्रिटिश सरकार ने अपनी हुकूमत में सभी प्रकार के भूस्वामियों को विरासत के अधिकार दिये जिनसे एशिया की जनता तब तक पूर्ण रूप से अनभिज्ञ थी। देश की प्रभुसत्तावान सरकार को लगान की अदायगी करना निश्चित किया गया जो समग्र भारत की भूमि की मालिक थी तथा इस तथ्य को समान एवं अपरिवर्तित रूप में लागू किया गया। मुझे इस के संबंध में यह नहीं कहना है कि इसमें बड़े भूधारकों के साथ साथ छोटे भू धारकों के हितों का ध्यान नहीं रखा गया। लगान में वृद्धि किए बिना उनका ध्यान रखा गया।

पुनः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधार न्यायिक प्रणाली में किए गए। सेना में भी अत्यधिक पुष्ट धार्मिक सिद्धांतों और प्रथाओं पर विशिष्ट रूप से अत्यंत आसानी से काबू पाया गया तथा उनमें भी सुधार किए गए। ये प्रथाएँ धीरे धीरे प्रयोग में नहीं रहीं।

फिर कम हो गईं या देखी नहीं गईं। हमारी सरकार की सामान्य भावना यह है कि यह देशी लोगों के प्रति आदर भाव रखती है। इस तरह के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि हम स्वाधीनता के अत्यंत हिमायती हैं। सर विलियम जोन्स ने भारत के देशी लोगों के मामले में कुछ वर्ष पूर्व बड़े दुख के साथ कहा था कि उन्हें अपनी दृढ़ एवं अपरिवर्तित निरंकुशता छोड देनी चाहिए।

लेकिन ऐसी बात नहीं है कि इसमें प्रत्यक्षतः उनके धर्म का ही सवाल आड़े आता है बल्कि उनकी संस्थाएँ भी अन्य देशों में किये गये परिवर्तनों के प्रति अत्यंत भावप्रवण दिखती हैं। लेकिन कई मामलों में धार्मिक रूप से सीधे प्रश्न भी उठाए गए हैं। हम बहुत विशाल संख्या में उन मुसलमानों की इस संबंध में गणना कैसे करें जो कि करीब दस से पंद्रह मिलियन के आसपास होंगे। ये समग्र भारत में फैले हुए हैं। इन में से अधिकांश लोग हिंदू धर्म से मतांतरित हुए हैं। ये क्या हमारे लिए निर्णय हेतु उचित निर्धारक तत्त्व नहीं हो सकते ? साथ ही, मैं आपको मुसलमानों के कठोर अत्याचारों की भावना से अवगत करा दूँ जिस की वजह से चिंता में और अधिक वृद्धि होती है। चूंकि अब इसे सर्वसम्मत सत्य के रूप में देखा जाता है कि अत्याचारों से उद्देश्यपूर्ण प्रतिकार भी होता है। धर्म के हावी होने के कारण ऐसा होता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप देश में अराजकता की स्थिति बनी रहेगी।

पुनः हम देश की बड़ी संख्या वाले सिख समुदाय से क्या कहेंगे जो कि २००,००० रिसालों के मालिक हैं और जिन्होंने कुछ ही सदियों में हिंदू आस्थाओं को त्याग दिया है और इसकी धार्मिक जकड से अपने आपको मुक्त कर लिया है ?

बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या भी अत्यधिक है। ये लोग जाति को नकारते हैं। हिंदू धर्म के धुंधले प्रकाश में उसी में से दूसरे देशों की तरह ही समय समय पर विभिन्न मत पैदा हुए हैं। श्री ओर्मे का मानना है कि ''प्रत्येक प्रांत में इनके पचासों सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी विशिष्ट विचारधारा है।''

लेकिन फिर भी हमें आशा की किरण इस दिशा में दिखाई देती ही है; हमें इन बातों से भी इस दिशा में बेहतर तार्किक कारण दिखाई देते हैं कि हिन्दू धर्म के सिद्धांतों की मूल प्रकृति में ऐसा कुछ भी निहित नहीं है जिससे उनके लिए ईसाई धर्म स्वीकार करना असंभव जान पड़ता हो। इस तथ्य से कौन अवगत नहीं है कि भारत में पहले से ही देशी लोगों के लिए कई चर्चें रही हैं। गत शताब्दी में, वहाँ मतांतरण के कार्य में कम अधिक मात्रा में सफलता प्राप्त हुई ही है। इस समय ईस्ट इंडिज में लाखों देशी ईसाई निवास कर रहे हैं।

लेकिन यहाँ पुनः मेरे तर्क को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए मैं सदन के समक्ष केवल एक उदाहरण रखना चाहता हूँ। इससे मैं इस विषय पर विचार प्रस्तुत करने वाले अपने विरोधियों की पूर्ण अज्ञानता की बात रखना चाहता हूँ : एक उच्च चरित्रवाले प्रतिभाशाली भद्रजन का उदाहरण मैं आपके समक्ष रख रहा हूँ जिसने भारत में तीस वर्ष गुजारे हैं, तथा अपनी प्रथम हैसियत को प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास किए हैं और बंगाल में सर्वोच्च परिषद में पूरे दस वर्ष अपने पद पर पूर्ण किए हैं, जिसने आपके समक्ष अपनी बात प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इंग्लेंड में पुनः लौटते समय तक उसने भारत में देशी ईसाई लोगों के अस्तित्व के बारे में कभी सुना ही नहीं। तत्पश्चात उसने डॉ. बुचानन के इस विषय से संबंधित लेखन को पढ़कर जानकारी प्राप्त की जिस पर उन्होंने अपनी संदेहास्पद स्वीकृति दी है। क्या इससे अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि ऐसे भद्रजन इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की बजाय अपनी नजर सत्य के अवबोधन पर टिकाए हुए हैं और अपने आसपास के लोगों के द्वारा इस विषय पर बिना किसी प्रश्न के पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो गए हैं। इस तरह की मानसिकता से पीडित होकर वे त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष निकालने लगे हैं।

मुझे एक अन्य परिस्थिति का भी उल्लेख करने की अनुमति दी जाए जिस पर विचार करने की समुचित आवश्यकता है। यदि हमारे विरोधियों के आग्रह ठीक भी हों कि भारत के देशी लोग अपने धर्म के खिलाफ सुनते ही क्रोधित हो जाते हैं तथा गुस्से के साथ तर्क वितर्क करने पर उतारू हो जाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है कि ईसाई मिशनरियों ने दंड का भय दिखाकर उनका जीवन सुरक्षित भी बनाया तो भी इससे ईर्ष्या एवं घृणाभाव में अभिवृद्धि ही होगी; और जहां तक हमारे विरोधियों ने अतार्किक पूर्वाग्रहों को पैदा करने की बात की है तो हमारी ईसाई मिशनरियां वैश्विक स्तर पर अत्यंत उत्साही, परिश्रमी, कर्मठ एवं सफल हैं। ये सभी वर्गो के लोगों के बीच रहकर कार्य कर रही हैं। ये समस्त यूरोपीय लोगों में अत्यंत प्रिय हैं। मैं अपनी बात की पुनरावृत्ति करूँ तो स्वार्टज़, गैरिक, कॉल्हॉफ आदि तथा उनके सहयोगियों की स्मृतियां भी इस संबंध में सचाई पूर्ण नहीं हैं; पिछली पीढ़ी की मिशनरियों के संबंध में स्वार्ट्ज़ की प्रशस्तियों के बारे में मुझे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि हमारे विरोधी उनकी जोरशोर से प्रशंसा कर चुके हैं। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उनके सुदीर्घ एवं कर्मठ मंत्रीपद के दौरान वे देशी लोगों में ही थे जिनके लिए उनमें उच्चतम सम्मान एवं अत्यधिक प्यार की भावना थी।

लेकिन माननीय बैरोनेट संकेत करते हैं कि श्री स्वार्ट्ज की देशी लोगों के बीच लोकप्रियता धार्मिक दृष्टि से भी कम ही आँकी जा सकती है। माननीय बैरोनेट का कहना है कि स्वार्टज एक राजनेता थे। जी हाँ, महोदय; मैं माननीय बेरोनेट को यह याद दिलाने के लिए धन्यवाद देता हूँ; स्वार्ट्ज एक राजनेता अवश्य थे लेकिन अपनी सेवा में वे एक स्वयंसेवक नहीं थे; वे एक राजनेता ईस्ट इंडिया सरकार की महत्त्वपूर्ण संधि की वजह से बने थे क्यों कि हैदरअली से संधि करने के लिए उन्हें उस समय ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला था जिस पर पूर्णतः विश्वास किया जा सकता है। एक मिशनरी के रूप में उन्हें वहाँ भेजा गया था लेकिन स्वार्ट्ज इसके परिणाम स्वरूप एक राजनेता बन गये। एक मिशनरी होने के नाते उन्हें लाभ प्राप्त हुआ क्यों कि उन्हें शत्रु नहीं माना गया था। उन्होंने मुसलमान एवं हिन्दू दोनों का विश्वास जीत लिया।

लेकिन स्वार्ट्ज द्वारा मतपरिवर्तन कराए जाने के संबंध में आरोप लगाए जाते हैं कि उन्होंने उन लोगों का मतपरिवर्तन कराया था जिन्हें या तो उनकी जातियों से बहिष्कृत कर दिया गया था अथवा जो अत्यंत निचली जातियों के थे। इस कारण से देशी ईसाईयों में तब से आज तक यही आम राय बनी हुई है। महोदय, यह पुनः वही पूर्वाग्रहों से ग्रसित मानसिकता है जो कि सहज रूप से लोगों के दिमाग में घर कर जाती है। और कुछ भी करने की स्थिति में न होने पर ऐसी धारणाएँ बना ली जाती हैं। ऐसी धारणाओं के प्रति वक्ता एवं श्रोता दोनों ही सहज रूप में विश्वास कर लेते हैं। किसी भी स्पष्टीकरण की कहीं भी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। हमारे विरोधी भी श्री स्वार्ट्ज की सत्ता का उपयोग अपनी ही तरह से कर के अपने पक्ष में तर्क देते नजर आते हैं। लेकिन यदि वह भद्र पुरुष भारत में इस व्यक्ति के होने के बारे में पढ़े तथा जैसा कि माननीय बैरोनेट ने उस दिन प्रस्तुत किया था उसके बारे में जाने जिसमें मिशनरियों के संबंध में भारत के सदन में एक वर्ष पहले प्रस्तुत किया गया था तो उसे भी आघात लगेगा क्योंकि मोंटगोमेरी कैम्पबेल ने सभी मिशनरियों एवं उनके अनुयायियों के संबंध में अपमाजनक और विकृत तर्क प्रस्तुत करके परस्पर विरोधाभासी बातें की थीं जिन्हें अत्यंत सहज रूप से परिचालित किया गया था। बाकी लोगों के बीच यह मतांतरित लोगों की निम्नतम स्थिति की ही बात कही गई थी। कहा गया था कि श्री कैम्पबेल यदि कभी चर्च में गए होते तो वे वहाँ दो तिहाई से अधिक लोगों को अवश्य उच्च जाति के देखते। यही स्थिति ट्राइबर एवं वेपरी में थी। इसी भांति, मद्रास सरकार के अधिकारी के रूप में कार्यरत डॉ. कैर ने भी सन् १८०६ में मलबार तटीय क्षेत्र का प्रतिष्ठान के संबंध में संभावित सूचना प्राप्त करने तथा इस क्षेत्र

में ईसाई धर्म आदि के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से दौरा किया था तथा उनके विश्वस्त अनुमानों के अनुसार वहाँ उनकी संख्या ७० से ८० हजार देखी गई। उनकी स्थिति भी उस समय अत्यंत अच्छी बताई गई तथा नैतिकता की दृष्टि से भी उनके हौसले बुलंद बताए गए। इस यथातथ्यता के संबंध में सामान्य व्यवहार में उन्होंने देखा कि ''उनको नायरों द्वारा अत्यंत उच्च आदर भाव से देखा जाता है''। ''उनके साथ रहकर वे अपने आपको अपवित्र महसूस नहीं करते हालाँकि यह सर्वविदित तथ्य है कि इस दृष्टि से नायर सभी हिन्दुओं में अत्यंत विशिष्ट ही हैं''। ''त्रावनकोर एवं कोचीन के राजा उन्हें नायरों के बाद के क्रम में ओहदे देते हैं।''

पुनश्चः भारत के एक सम्माननीय सज्जन का वैस्टमिनिस्टर के अत्यंत आदरणीय एवं न्यायप्रिय डीन, डॉ. विंसेट को लिखित एक पत्र ईसाई ज्ञान के संवर्धन हेतु स्थापित सोसाइटी की १७९९ की रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है जिसमें देशी लोगों के ईसाई मतांतरण करने के संबंध में अत्यंत भ्रांत धारणाओं से युक्त विश्वव्यापी भ्रांत स्वर में इसका कठोरतापूर्वक विरोध किया गया है। संख्या को अत्यंत अधिक बताने के पश्चात् उनका कहना है कि ''वे निम्न पेरियार जाति के हैं। यह एक बड़ी गँवार देशी जाति है। इसके अतिरिक्त जैसा कि प्रायः देखा जाता है, ये अपने सर्वत्र सम्मानित देशी साथी लोगों के द्वारा अत्यंत तिरस्कृत एवं अवहेलित जाति के लोग हैं।'' तथापि, उन्होंने आगे लिखा है कि ''आप भारत से लौटने वाले छह में से पांच लोगों से भारत के देशी ईसाई लोगों की स्थिति के संबंधमें उनकी राय पूछेंगे तो उनका उत्तर यही होगा कि वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करने का कोई फायदा नहीं है। इसके बाद वे आम राय के रूप में अपनी घिसी पिटी बात दुहराएँगे जो कि किसी भी जाँच से बिल्कुल परे ही होगी, ''कोई काली चमड़ी वाला व्यक्ति ईसाई धर्म के बारे में आखिर जान ही क्या सकता है ?'' महोदय, मैं इस विषय पर काफी कुछ कह सकता हूँ लेकिन इन मतों में आखिर सचाई का अंश होता ही कितना है। ऐसे वाक्य पूर्वाग्रह युक्त मानसिकता की ही परिणति मात्र होते हैं; इस तरह की बातें करने वाले लोग सही मायने में हमारे सबसे बड़े शक्तिशाली दुश्मन हैं जिनसे हमें संघर्ष करना है। डॉ. विंसेंट के पत्राचार में ठीक ही कहा गया है कि ''यह अज्ञानता एवं मतभिन्नता की अत्यंत विषम स्थिति ही है कि देशी धर्मांतरित लोगों के बारे में हमारे लोगों के दिमाग में अपमानजनक विचार हैं जो कि सरासर गलत एवं भ्रमपूर्ण हैं। ''तथापि, डॉ. विंसेंट के पत्राचार के आकलन की दयनीय स्थिति यह रही है कि इसे उपेक्षित नहीं समझा गया है जबकि पृथ्वी पर बड़े क्षेत्र में इस संबंध में अंधकाराच्छन्न एवं अवनतियुक्त

स्थिति बनी हुई है। हमने इस सदन में जो कुछ सुना वह सब अत्यंत दुखदायक एवं लज्जास्पद है लेकिन हम सभी इसके साक्षी हैं कि उत्कृष्ट सूझबूझ वाले, स्वतंत्र एवं सुव्यवस्थित दिमागवाले भी इन बेसिरपैर की ऊलजलूल बातों से गुमराह हो सकते हैं। जाने माने इतिहासकार डॉ. रॉबर्टसन भी इस संक्रामकता से बच नहीं पाए हैं। हालाँकि उन्होंने अत्यंत नपेतुले, न्यायोचित एवं संगत कथन दिए हैं। फिर भी, अनिच्छापूर्वक वे भारत के देशी लोगों के मतांतरण को अव्यावहारिक मानते हैं। वे लिखते हैं कि २०० वर्षों में लगभग १२,००० की संख्या में मतांतरण हुए होंगे जिनके संबंध में यदि मैं गलत नहीं हूं तो इन मताांतरित लोगों में अत्यंत निचली जातियों के लोग ही शामिल हैं जो कि अत्यंत दारुण स्थिति से आए हैं। ईसाई के नाम पर इन्हें धर्मांतरित करने के पश्चात् अत्यंत तिरस्कृत एवं अपमान जनक दृष्टि से देखा जाता है। मैं अपने तथ्यों और तर्कों को और अतिरंजित रूप में प्रस्तुत कर सकता हूँ; लेकिन महोदय, मुझे विश्वास है कि आप इस तथ्य से भलीभाँति अवगत ही हो गए होंगे कि हिन्दुओं में धर्मांतरित करने की प्रथा के अप्रचलित होने की धारणा व्यर्थ एवं निराधार सिद्धांत ही है। विरोधियों की स्थिति को तथा अपने मित्रों की स्थिति को देखते हुए मैं अपने दृढ़, निश्चित एवं अविवादित अनुभव के आधार पर अपनी बात पर दृढ़प्रतिज्ञ एवं अटल हूँ।

लेकिन हमारे विरोधी एक दूसरे को इस भारी भूल के प्रति उकसा रहे हैं। अब भी उनके हौसले बुलंद हैं । उनका कहना है कि यदि हिंदुओं का ईसाई धर्म में मतांतरण व्यवहार्य एवं उपयोगी होता तो भी यह वांछनीय नहीं होता। हिंदुओं के धर्म सिद्धांत इतने उत्कृष्ट कोटि के हैं, उनकी नैतिकता इतनी पवित्र है, जैसा कि एक से अधिक माननीय सज्जनों ने हमें बताया है कि उनकी नैतिकता हमसे भी उत्कृष्ट है, यह सब हमारे धर्म एवं हमारी नैतिकता के संबंध में कम से कम शायद अतिशयतापूर्ण, शरारतपूर्ण प्रयासों की अभिव्यक्ति के प्रयास ही हैं।

फिर भी यह कोई नया धर्मसिद्धांत नहीं है अपितु इसकी जड में झाँका जाए तो यह बडा ही लज्ञास्पद एवं दुखदायक है। मैं इस सदन में कुछ भी अपमानजनक बात नहीं करना चाहता। मैंने फ्रेंच संशयवादी दार्शनिकों को उस समय करारा जवाब दिया था जब वे ईसाई धर्म के विरुद्ध उद्देश्यपूर्वक अपमानजनक बातें कर रहे थे। वे कह रहे थे कि जो देश इसके विषय में पूर्ण रूप से अनजान है तथा जिन देशों के लोग सामान्यतः अत्यधिक उदार एवं शांतिप्रिय हैं तथा सरल एवं उन देशों की तुलना में अधिक मैत्रीपूर्ण हैं जिनमें ईसाई धर्म लम्बे समय से व्याप्त है, ये उन देशों में भी

ईसाईयत को फैलाकर ईसाई धर्म की बदनामी कर रहे हैं। तथापि, हमारे पडोसी राज्य को फ्रेंच दार्शनिकों के ये धर्मसिद्धांत भले ही सुसंगत लगते हों, व्यावहारिक रूप से टिप्पणी करने के पश्चात् हमारे विरोधियों के विचार एवं अनुभव उनके स्रोतों की दृष्टि से न तो इस सदन के लिए ही स्वागत योग्य हैं और न इस देश के लिए ही।

लेकिन, महोदय, मैं यथार्थरूप आपसे मात्र इतना कहता हूँ कि यदि हमारी पूर्वी भारतीय सहयोगी प्रजा के धार्मिक सिद्धांत एवं नैतिकता वास्तव में इतनी प्रशंसनीय होती तो वे पहले से ही हमसे भी अच्छे होते। यह एक तथ्य है कि वे अन्य समय में तथा देशों के रूप में ऐसे दिखते नहीं हैं। जब कोई ऐसा देश होता जिसमें ईसाई धर्म का आलोक कभी नहीं पड़ा होता तो वह भी इतना अधम एवं नैतिक पतन के अंधकार में आच्छादित नहीं होता। सिद्धांत और व्यवहार रूप में वह भी इतना अधिक अधम एवं क्रूर नहीं होता। क्या यह सब उन्नत राष्ट्रों को यथार्थ रूप में नहीं दिखता है ? उनमें एकाधिक प्रथाएँ प्रचलित नहीं मिलतीं जिन्हें उनके सर्वाधिक बुद्धिशाली एवं उत्कृष्ट लोगों ने प्रायः अनुमोदित न किया हो परन्तु जिन्हें समस्त ईसाई देशों में मृत्युदण्ड का भागी न माना जाता रहा हो ? लेकिन महोदय, उनके सुनिश्चित एवं अचूक प्रभावों के कारण कभी नैतिक नहीं रहे हैं। क्या यह सर्वविदित प्रसिद्ध तथ्य नहीं है कि भारत के प्रांत अत्यंत प्राचीन काल से राजनीतिक एवं धार्मिक निरंकुशता की दुहरी मार से नहीं कराहते रहे हैं ? तो भी क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में भी उनके नैतिक चरित्र में कोई आनुपातिक नैतिक पतन नहीं हुआ ? क्या ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमंस जैसे स्थान पर अन्य सभी स्थानों से परे यह सिद्धांत प्रतिपादित किया जाए कि इसे सदैव बनाए रखा गया था ? क्या हम इतने कम समझदार हो गये हैं कि जिस मुक्त संविधान और धार्मिक स्वतंत्रता का हम उपभोग कर रहे हैं उसका मूल्य नहीं समझते हैं और उसके प्रति अकृतज्ञ होकर इस प्रकार के प्रस्तावों को सह लेते हैं ? बिल्कुल नहीं, महोदय, मुझे विश्वास है कि ऐसी भ्रांतियों को दूर करके हम अपनी समझ को दुरुस्त कर के अपनी भावनाओं की रक्षा करेंगे। नहीं, महोदय, इस देश के लोगों की आम राय कम से कम इतनी तो दूषित बिल्कुल नहीं हुई है। सत्य बात तो यह है कि हम भारत के लोगों की उस नैतिकता एवं रीतिरिवाजों के प्रति अवश्य आशंकित हैं जो अपने अंधविश्वासों के तिमिर में तथा राजनीतिक गुलामी के बोझ तले इतने लम्बे समय तक दबकर अवनति के गर्त में चले गये हैं। इस के संबंध में मैं कहना चाहूँगा कि यह सब उनकी संस्थाओं एवं रीतिरिवाजों की वजह से हुआ है, न कि मात्र धर्म की वजह से'। लेकिन मानवता की यह मांग है

कि हमें उसे उस सबसे ऊपर उठाने के लिए विधिसम्मत तरीके अपनाने चाहिए।

लेकिन सम्माननीय सज्जनों ने अपने धार्मिक ग्रंथो से कुछ अंश हमें पढ़कर सुनाए जिनमें से कुछ में तो विशुद्ध एवं भव्य नैतिकता की बातें निहित हैं। अकबर के समय की बातें भी हमारे समक्ष उद्‌धृत की गईं तथा बंगाल के एक अधिकारी का अत्यंत उत्कृष्ट कार्य प्रकाशित भी हुआ है जो कि समग्र रूप से हिंदुओं के पवित्र धर्मग्रंथों के उद्धरणों पर आधारित है।

मैं इस ओर सदन का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। साथ ही, मैं अपने विरोधियों से इस बहस के संबंध में अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे इस तथ्य से अवगत हैं भी या नहीं कि यह एक स्वीकार्य तथ्य है (मैं हिन्दूधर्म विधिके श्री हाल्हेड के अनुवाद का संदर्भ दे रहा हूँ) कि यदि कोई शूद्र उनके धर्म ग्रंथ को पढता है या सुनता है तो वह अत्यंत निर्मम मृत्यु का भागी होता है। यदि हमारे विरोधी इससे अनभिज्ञ हैं तो इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि हम जिस पथ पर अब अग्रसर हो रहे हैं उस पर पथप्रदर्शन करने के लिए वे कितने समर्थ एवं योग्य हैं। यदि वे इससे अवगत हैं तो वे बताएँ कि यह सब कुछ कितना न्यायसंगत है। इस उत्कृष्ट नैतिकता के विषय में, पूर्व भारतीय जनता की उत्कृष्ट नैतिकता के विषय में वे बताएँ कि यह किस नैतिकता का प्रतीक है ? महोदय, आखिर ऐसा क्यों है कि विश्व के अन्य गैरईसाई सभ्य देशों के समान ही भारत में भी ऐसी विकट स्थिति क्यों बनी रही है ? वहाँ, आंतरिक एवं बाह्य धर्म सिद्धांतो की बहुत ऊँची बातें हैं। उनके दार्शनिकों के लेखन में नैतिकता की बड़ी ही ऊँची बातें कही गई हैं। हमें उनके कथन अत्यंत उत्कृष्ट कोटि के मिलते हैं। परन्तु हम जानते हैं कि नैतिक विचारों एवं व्यावहारिक रूप में उनके बीच कोई मेल नहीं दिखता। आज भी वहाँ के बहुसंख्यक लोग वंचित, गँवार, एवं राक्षसी प्रवृत्ति के दिखाई देंगे। साम्राज्यवादी दार्शनिक एंटोनिअस के उदात्त चिंतन से अधिक उन्नत धब्बे और कहाँ दिखाई देंगे ? और अकबर की संस्थाओं के जवाब में मैं टेमरलेन का नाम ले सकता हूँ क्योंकि हमारे विरोधियों में से एक ने अभी उसका नाम ऐसे अत्यंत रक्तरंजित निरंकुश शासन के रूप में लिया है जिसने सदैव गद्‌दी का अपमान ही किया परन्तु जिसे श्री गिबन ने सम्पूर्ण राज्यतंत्र के आधार पर अब तक सबसे अधिक अच्छी एवं सर्वांगपूर्ण प्रणाली के रूप में स्थान दिया है।

इस समय हम जिस विषय पर चर्चा कर रहे हैं वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि मैं अपने तर्क के औचित्य हेतु इसे थोड़ा अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत करना चाहूँगा। यद्यपि मैंने काफी कुछ अकथित रूप में छोड़ दिया है जिससे सदन की कृपादृष्टि का

उल्लंघन न हो। भारत में लम्बे समय तक अधिकारी के रूप में रहनेवाले कुछ सज्जनों की प्राधिकारिता के संबंध में तथा उनके द्वारा कथित भारत के देशी लोगों की सत्यनिष्ठा के प्रमाण एवं सर्वोच्च नैतिकता के संबंध में मैं प्राधिकारियों से भी बढ कर कहने की गुजारिश कर रहा हूँ। जब यह सदन मेरी बात से अवगत हो जाएगा तब मुझे विश्वास है कि उनके दिमाग में कोई संदेह शेष नहीं रहेगा कि भारत के देशी लोगों के नैतिक चरित्र के बारे में मेरा प्रस्तुतीकरण कितना सही है, और उस पर किसी भी तरह की आपत्ति उठाने की आवश्यकता नहीं है। महोदय, मैं सर्वप्रथम आपके समक्ष हिन्दुओं की नैतिक स्थिति के बारे में कुछ सर्वसामान्य अभिमत उद्धृत करना चाहता हूँ जिन्हें प्रख्यात लेखकों ने लिखा है, उन की प्रामाणिकता भी अत्यंत अधिक है, वे कम्पनी की सेवा में उच्च पदों पर लम्बे अरसे तक रहे हैं, वे काफी लम्बे समय तक वहाँ रहे हैं, उन्होंने उनके साथ काफी लम्बे समय तक संवादिता बनाए रखी है। अतः उन्हें उनके चरित्र के संबंध में अधिक पता होना ही चाहिए। यहाँ मैं उनके लेखन से कुछ अंश पढ़कर सुनानेवाला हूँ। इन्हें सदन के समक्ष अत्यंत मूल्यवान कागजात के रूप में रखा गया है। इस सदन के समक्ष एक अत्यंत सम्माननीय एवं प्रिय मित्र के कार्य को भी रखा गया है जिनमें उत्कृष्ट सूझबूझ है और जिनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य एवं राय आदर से सुने जाते हैं। भारत में निवास के दीर्घ समय में वहाँ के लोगों से पूरी तरह से परिचित हैं तथा जिस विषय पर इस समय हम चर्चा कर रहे हैं, उस विषय पर उचित न्याय देने में सक्षम सिद्ध हो सकते हैं।

अपने प्रथम साक्षी के रूप में यात्री बर्नियर के कार्य को प्रस्तुत करूँगा जो कि इस विषय में अधिकारी व्यक्ति हैं। मैं श्री हैस्टिंग्स की जाँच के साक्ष्य के रूप में उनके कार्य को प्रस्तुत करुँगा। यह वह व्यक्ति है जिसने लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व देशी लोगों के बीच यात्रा की थी । उन के बीच रहकर उनके चरित्र के विषय में, विशेष रूप से ब्राह्मणों के चरित्र के विषय में, जानकारी प्राप्स की थी और उसके विषय में लिखा था। लेकिन चूंकि उन्होंने अपने दृष्टिकोण का सारांश प्रस्तुत किया है मैं सामान्य रूप से उनके उच्च दृष्टिकोण को प्रस्तुत करूँगा। ब्राह्मण लोगों के विषय में श्री स्क्रफ्टन ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका निर्देशात्मक कार्य लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। कर्णाटक के श्रेष्ठ इतिहासकार श्री ओर्मे उनकी चारित्रिक विशेषताओं की और अधिक निम्नस्तरीय गाथा हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। ''क्या भारत के देशी लोग समस्त मैत्री भाव में अनुदार एवं अकृतज्ञता के लिए बदनाम नहीं हैं ? क्या वे अपने समस्त व्यवहारों में चालवाज एवं धोखेवाज नहीं हैं ? उनका धर्म अंधविश्वासों के

प्रभावों से ऊपर नहीं उठ पाया था।'' (ओर्मे का भारत, खंड - ४, पृ. ४३४)

ब्राह्मण लोग उदारता पूर्वक दान स्वीकार करके प्रत्येक अपराध का प्रायश्चित कराने में सक्षम थे। अपनी स्थानलोलुपता एवं विषयासक्तता के लिए वे स्वयं जिम्मेदार थे।'' ओर्मे के पूर्वी भारतीय मुसलमानों का चरित्र भी ब्राह्मणों के ही चरित्र जैसा अत्यंत नकारात्मक है, ''वे अपनी प्रजा के प्रति अत्यंत धृष्टतापूर्ण, स्वेच्छा से अनियंत्रित, अमानवीय, क्रूरतापूर्ण, घातकी एवं हत्यारे थे। अपराध में भी राजनीति के समान ही अत्यंत चालाकी से परिपूर्ण थे। वे अत्यंत क्रूरतापूर्वक एवं भावनाहीन रूप में अपराध करते हैं। दैनंदिन कार्यों की ही तरह वे अपराध का आचरण करते हैं। ये अत्यधिक कामुक एवं विषयासक्त हैं। ये प्रकृति से भी विद्रोह करते हैं। इन्हें सत्ता की असीम भूख है। जिस प्रकार इनमें दुर्गुणों का आधिक्य है उसी प्रकार से अपव्यय करने के लिए धन संचित करने की भी इनकी महती भूख है। इन भारतीय जंगली लोगों का इस प्रकार का चरित्र है।'' (ओर्मे, भारतीय जंगली लोगों के तौर तरीके आदि, वही, पृ. ४२३)

गवर्नर हॉलवैल ने पूर्वी भारतीय देशी लोगों के चरित्र को इतनी सीधी सादी एवं नपीतुली शब्दावली में प्रस्तुत किया है कि उसे यहाँ उद्धृत किया जाना चाहिए। ऐसा प्रस्तुत करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि हॉलवैल का दिमाग ईसाई धर्म के पूर्वाग्रहों से दूषित नहीं था । ईसाई पद्धति के प्रति भी वे पूरी तरह तटस्थ थे । भारत के देशी लोगों की तुलना करते हुए उन्होंने इसी तटस्थ दृष्टिकोण को अपनाया है। भारत के देशी लोगों के संबंध में वे लिखते हैं, ''लोगों की यह एक ऐसी प्रजाति है जो अपने आरंभिक समय से ही आम विश्वास एवं ईमानदारी के विचार के प्रति पूर्ण रूप से अनजान ही है। ये देशी लोग सामान्यतः विश्व की किसी भी प्रजाति के लोगों की तुलना में अधिक खतरनाक एवं दुष्ट प्रकृति के होते हैं। यदि इनमें कुछ उत्कृष्ट रूप के होते भी हैं तो विशेष रूप से वे ब्राह्मण होते हैं। हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जब हमने कोलकत्ता की न्यायिक अदालत में लगभग पाँच वर्ष पदभार संभाला था तब हमारे समक्ष जब भी कोई जघन्य जातिद्वेषगत अपराध या हत्या का मामला आया था तो अंत में यह सिद्ध हुआ था कि उसकी जड में कोई न कोई ब्राह्मण व्यक्ति था।''

लॉर्ड क्लाईव की गवाही भी इसी तरह की स्पष्ट एवं सारगर्भित भाषा में दी गई है : ''हम अपने सुदीर्घ अनुभव के आधार पर जानते हैं कि इस देश के अधिवासियों में किसी भी कार्य के प्रति नैतिक बाध्यता बिल्कुल भी नहीं है।''

इस तरह उनके संबंध में नकारात्मक चरित्र की बातें गवर्नर बेरेल्स्ट ने की हैं। वे भी विशेष रूप से धनलोलपुता, विश्वासघात एवं नमकहरामी के संबंध में ही हैं।

श्री शोरे (अब लॉर्ड तेनमाउथ) उनके चरित्र को अत्यंत काले रंग में रंगते हैं : ''देशी लोग कायर एवं चापलूस हैं, व्यक्तियों को व्यक्तिगत रूप से मान-सम्मान की तमीज ही नहीं है, तथा समग्र राष्ट्र नागरिक गुणों की दृष्टि से शून्य है। वे झूठ बोलने में बिल्कुल भी संकोच नहीं करते। यहाँ झूठ बोलने से लाभ दिखता है। झूठ, चोरी, लूट, छीनाझपटी, हत्या आदि भी समाज से बहिष्कृत किए जाने योग्य बड़े अपराध नहीं माने जाते हैं।''

'हिंदू अत्यन्त स्वकेंद्रित है; उसका स्वार्थ ही उसका मार्गदर्शक है।' अन्य टिप्पणियां भी इसी स्वरूप की हैं।

बीस या तीस वर्ष पूर्व गवर्नर जनरल के रूप में कार्यरत सर जॉन मैकफर्सन ने इस के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वर्णन किया है, ''मुझे आशंका है कि उनके (श्री शॉरे) द्वारा चित्रित तह तस्वीर अत्यंत सौम्य है। वे बंगालियों के मुख्य गुणों को दर्शाते हैं। उनके द्वारा खींची गई यह तस्वीर बिल्कुल ही काल्पनिक नहीं है।''

लॉर्ड कार्नवालिस ने उनके आचरण से यह सिद्ध किया है कि देशी लोग विश्वास के काबिल नहीं हैं । लोगों में मौके का फायदा उठाने की प्रवृत्ति बहुत है। वे न तो किसी पर विश्वास करते हैं न किसी भी देशी व्यक्ति को, चाहे यह हिंदू हो या मुसलमान, निम्न श्रेणी के नौकर से ऊपर के ओहदे पर नियुक्त करते हैं।

शायद यह ठीक ही हो, क्योंकि चारसौ वर्ष पूर्व वहाँ के महान विजेता तैमूललंग ने हिंदुस्तान के देशी लोगों के चरित्र के संबंध में इसी तरह के विचार व्यक्त किए थे। उसका मानना है कि ''हिंदुस्तान के लोगों को मानवता के गुणों की कोई आकांक्षा नहीं है। उन्हें अपनी कल्पना की ही पड़ी है । पाखंड, छलकपट एवं ठगी को वे अत्यंत उत्कृष्ट कार्य मानते हैं।'' लेखक के पूर्वोक्त संकलन में व्यक्त भारतीय देशी लोगों के चरित्र के निम्नलिखित सारगर्भित वर्णन से मेरे सम्माननीय मित्र अच्छी तरह से परिचित ही होंगे।

''समग्रतः हिंदुस्तान के लोग अत्यंत विकृत एवं निकृष्ट हैं। उनमें नैतिक दायित्व की भावना अत्यंत कम है; वे जो कुछ उचित समझते हैं उसके प्रति वे अत्यंत जिद्दी हैं, वे द्वेषपूर्ण एवं लम्पट प्रवृत्ति के हैं, अपने तौर तरीकों में सामान्य रूप से भ्रष्ट हैं तथा समाज में इस प्रभाव को अत्यधिक तीव्र रूप में प्रतिपादित करते हैं; अपने दुर्गुणों की वजह से स्वयं तो दुखों में निमज्जित हैं ही; साथ ही दूसरों को भी,

प्राकृतिक विरासतों का उपयोग करने का विशिष्ट दृष्टिकोण रखने के कारण, दुखों में डालते हैं।''

लेकिन हमें भारत के देशी लोगों के नैतिक पतन के कारणों के सुदीर्घ एवं अनुक्रमिक साक्ष्यों की श्रमसाध्य ढंग से पड़ताल करने की आवश्यकता है। मैंने कुछ अंश पहले ही पढ़कर सुनाए हैं। वे प्राचीन काल से संबंधित हैं। ऐसा भी हो सकता है कि वहाँ हमारे सुदीर्घ शासन काल में देशी लोगों के चरित्र में सुधार हुआ हो। लेकिन, महोदय, मुझे यह कहते हुए दुख होता है कि आवश्यकता होने पर भी ऐसा कुछ भी हुआ नहीं है। मुझे सन्देह है, तथा मुझे बहुत पूर्व की बात करते हुए भी ऐसा ही लगता है, और विश्वास भी होता है कि देशी लोगों का नैतिक स्तर बहुत प्राचीन समय से ही पतन के गर्त में धँस गया है। इस संबंध में मैं प्रमाण के तौर पर भारत के देशी लोगों की इस विकृत एवं अधम स्थिति को व्यक्त करने वाले इस सदन के एक प्रख्यात सज्जन को, जो अपनी प्रतिभा एवं वाक्पटुता के लिए मशहूर हैं तथा जिनके प्रस्तुतीकरण अत्यंत तार्किक हैं, प्रस्तुत करूंगा। मुझे उम्मीद है, तथा विश्वास है कि हम उन्हें अपने पक्ष में शीघ्र ही देखेंगे। मुझे शायद कहने की आवश्यकता नहीं है, मेरे संकेत को आप समझ ही रहे हैं कि मैं सर जेम्स मैकिंटोश की बात कर रहा हूँ। वे हाल ही में मुंबई की न्यायपीठ के अध्यक्ष नियुक्त हुए हैं तथा अत्यंत प्रख्यात हैं। उन्होंने मुंबई की भव्य न्यायिक प्रक्रिया में परिवर्तन लाने के संबंध में सन् १८०३ में कहा था, ''मैं स्वयं अनुभव करता हूँ कि हाल ही में प्रसिद्धिप्राप्त व्यक्ति सर विलियम जोन्स, जो कि भारत के देशी लोगों की पक्षधरता के पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं, तथा जिन्होंने अपने अध्ययन के निष्कर्षो से जो भी सिद्ध किया है, जिसके संबंध में मेरा मानना है कि उनके निष्कर्ष न तो पूर्णतः तार्किक हैं और न अप्रिय हैं, अथवा बेढंगे ही हैं। मेरा आकलन है कि उन्होंने एक लम्बे न्यायिक अनुभव के पश्चात अनिच्छा से यह सब स्वीकार किया है। जैसा कि वे स्वयं जोर देकर कहते हैं कि यह सब कुछ साक्ष्यों के प्रचार की दृष्टि से हुआ है। मैं ने स्वयं अवलोकन किया है कि यह नैतिक सिद्धांत के विलोपन की दृष्टि से अन्य प्रकार के धृष्टतापूर्ण एवं जघन्य अपराध हैं जो कि कल्पना से भी अधिक भयावह हैं। इसके आसन्न परिणाम समाज के लिए अत्यंत अनिष्टकारी हैं।''

कुछ समय के पश्चात् उन्होंने पुनः टिप्पणी की, ''इस अपराध के संबंध में मैंने पहले केवल सूचना ही दी थी लेकिन मैं अब इस संबंध में अपने गहन एवं दुःखद अनुभव से कह रहा हूँ। मेरा आशय है कि मैं कुछ साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ -

पूर्व में चारित्रिक गुणों के निम्न स्तर का एक ऐसा शोचनीय प्रमाण मिला जिसके प्रति सर जेम्स मैकिंटोश की उपर्युक्त टिप्पणी के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया था। एक प्रत्यक्षदर्शी साक्षी महिला से बयान दर्ज करनेवाले व्यक्ति ने पूछताछ की पर उसने टालमटोल की। प्रश्न यह था कि ''क्या गलत बयानी करने में कोई बुराई है ?'' उसने उत्तर दिया, ''मैं समझती हूं कि अंग्रेज लोग इसे अत्यंत गलत मानते हैं लेकिन मेरे देश में ऐसा नहीं है।'' (देखें १८०४ के एशियाटिक रजिस्टर पर दी गई मुंबई लॉ रिपोर्ट।)

देशी लोगों के इस तरह के छलकपट युक्त चारित्रिक व्यवहार के संबंध में गवर्नर जनरल लॉर्ड वैलेस्ले द्वारा भेजी गई रिपोर्ट से अधिक जाना जा सकता है। लार्ड वैलेस्ले ने इस संबंध में अत्यंत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिए माहिर लोगों को काम में लगाया । उन्होंने इस हेतु विभिन्न प्रांतों में स्थायी रूप से रह रहे संबंधित मंडल के न्यायाधीशों को यह कार्य करने को कहा। यह प्रयास इस तरह के साक्ष्य प्राप्त करने हेतु असफल ही सिद्ध हुआ क्यों कि इससे स्थानीय लोगों के नैतिक चरित्र के बारे में और अधिक प्रामाणिक सूचनाऐ प्राप्त करने में परेशानी हुई। कारण यहा था कि हमने जिनसे सूचना माँगी थी वे इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल नहीं हुए तथा हमारे उद्देश्यों के अनुरूप अपराधियों की गणना करके उनके संबंध में जानकारी नहीं दे पाए। मुझे कहना चाहिए, तथा कहते हुए मुझे आश्चर्य भी होता है कि जिस सज्जन ने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है उन्होंने शायद इस संबंध में जाँच नहीं की। इस तरह की जानकारी प्राप्त करने या उस दिशा में कदम उठाने का दायित्व लॉर्ड वेलेस्ली का स्वयं का था क्यों कि उन लोगों के संबंध में ब्यौरेवार जानकारी उन्होंने स्वयं माँगी थी। उन्हें समस्त प्रबंध करने चाहिए थे। लेकिन, महोदय, आप इस संबंध में स्वयं अनुभव करेंगे कि देशी लोगों की यह चारित्रिक विशेषता है कि वे लॉर्ड वेलेस्ली द्वारा जाँच हेतु नियुक्त किए गए लोगों से स्वयं ही प्रश्न करने लगे थे। मुझे विश्वास नहीं होता कि वहाँ के देशी लोगों के चरित्र के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करने का इसके सिवाय क्या कोई दूसरा अधिक प्रभावी तरीका हो सकता था, क्यों कि वे सभी रेजीडेंट मजिस्ट्रेट कम्पनी के नौकर ही हैं। में इस संबंध में सदन को समग्र शोचनीय स्थिति का ब्यौरा प्रस्तुत कर के चिंता में नहीं डाल रहा। लेकिन मैं उनके सामने कुछ प्रश्न अवश्य करूँगा। इन में सबसे पहला साक्ष्य पटना मंडल के द्वितीय न्यायाधीश श्री एडवर्ड कॉलब्रुक का २१ अप्रैल १८०४ को दिया गया कथन है जिसमें उन्होंने कहा था कि उन दंगाइयों के साथ सद्भाव रखना साक्ष्यों की

दृष्टि से कम जघन्य अपराध नहीं है। अभियोग पक्ष एवं बचाव पक्ष दोनों का इस तरह के कार्यों में लिप्त रहना कम चिंताजनक नहीं है। इस सूबे में इस तरह की ढिठाई पहले से ही प्रवर्तित है। प्रत्येक अवसर पर मानवीय गवाही के साथ अविश्वास व्यक्त किया जाता है। परिणामतः इस प्रकार की भावना लोगों में व्याप्त हो गई है। इस संक्रामक रोग से कोई भी ओहदा, कोई भी जाति अप्रभावित एवं परे नहीं है। एक जमींदारी दीवान ब्राह्मण व्यक्ति ने कई बार शपथ लेकर अपने कचहरी अमले के संबंध में गवाही दी और आरोप लगाया कि दो साक्ष्यों की कचहरी में आकर गवाही न देने के लिए हत्या कर दी गई है। उसके इस साक्ष्य की कलई उस समय खुल गई जब उन दोनों को अदालत में जिंदा एवं बिना किसी क्षति के प्रस्तुत किया गया। परन्तु उसने बिना किसी लज्ञा के कहा कि यदि वह उस तरह की गवाही नहीं देता तो उसकी नौकरी चली जाती।

अब में आपके समक्ष इसी तरह के अवमाननायुक्त कथन के सार को प्रस्तुत करने जा रहा हूँ जिसे अपने उत्तर के रूप में ३० अगस्त १७९९ को पुलिस समिति के अध्यक्ष एवं सदस्यों के समक्ष ढाका, जलैलपुर के न्यायाधीश ने दिया था। मानव के अवमूल्यन एवं दयनीय स्थिति तक गिर जाने से लोगों को दुख ही होगा। मैं इस संबंध में वांछित सूचना यथासंभव संक्षेप में प्रस्तुत करूंगा। उनके दिमाग पूरी तरह से अपरिष्कृत हैं; नैतिक कर्तव्यों की उन्हें लेशमात्र समझ नहीं है; वे कंजूसी की हद को भी पार कर चुके हैं अतः उनके दिल भी वैसे ही हो गए हैं। वे अत्यंत अकर्मण्य एवं विषयासक्त हैं। वे अत्यंत बर्बर एवं कायर हैं, धृष्ट एवं अधम हैं; उनमें धर्मभावनारहित अंधविश्वासों का बोलबाला है। संक्षेप में, उनमें कोई भी मानवीय गुण देखने को नहीं मिलता। उनमें जंगली जीवन के समस्त अवगुण मौजूद हैं। यदि हम थोड़ा सा उच्चदृष्टि से देखें तो हमें उनमें सिद्धांतहीनता, अत्यंत कंजूसी, किसी भी मानवीय भाव से विमुखता तथा स्वार्थवृत्ति दिखगी जो कि उनमें चिरकाल से विद्यमान है।'

सत्र पूर्ण होने पर दिये रिपोर्ट में मंडल के न्यायाधीशों ने लिखा, ''ईमानदार एवं दुर्जन दोनों झूठी शपथ लेते हैं। अत्यधिक साधारण एवं अधिकांश धूर्त व्यक्ति भी इस तरह की धारणाएँ फैलाते हैं कि उन पर विश्वास नहीं होता। वे बिल्कुल झूठे होते हैं।''

मंडल एवं अपीली न्यायालय, मुर्शिदाबाद ने अपनी रिपोर्ट (२६ जनवरी १८०२) में लिखा है, अपने न्यायिक कर्तव्य के निर्वाह के दौरान हमें सत्य को तोड़मरोड़कर इसी तरह अपमानजनक स्थिति में प्रस्तुत करने के संबंध में ज्ञात हुआ

जो भारत के देशी लोगों के चरित्र में सदैव दिखाई देता है।''

न्यायाधीश स्ट्रेसी का कहना है, ''मंडल न्यायालय के समक्ष इतना अधिक झूठा या फिजूल या निर्लज्ञतापूर्ण मामला पहले नहीं आया। झूठी शपथ लेना जैसे आम बात हो गई हैं।'' (पूर्वी भारत विषयक मामलों की समिति की पाँचवीं रिपोर्ट।)

३० जून १८०२ को प्रश्नों के उत्तर में न्यायाधीश स्ट्रेसी ने कहा, ''वे पहले से कुछ अधिक स्वेच्छाचारी दिखते हैं। प्रवंचना, मिथ्या शपथ दिलाना, छलकपट एवं अपराधप्रेरण का निश्चित रूप से अधिक प्रचलन हो गया है।''

निम्न जातियाँ सामान्यतः अधिक दुश्चरित्र एवं भ्रष्ट हो गई हैं। उच्च जातियों द्वारा भी नैतिक कर्तव्यों की उपेक्षा की जाती है। लोग पूरी तरह से मुकद्दमेबाजी में पड़ गए हैं। इस समय लोगों में झूठी शपथ खाने की अपराधवृत्ति जितनी अधिक मात्रा में देखने को मिलती है उतनी मात्रा में इससे पहले देखने को नहीं मिलती थी।'' (२४ परगना के मजिस्ट्रेट द्वारा प्रश्नों के उत्तर आदि।)

शायद सदन को इन उत्तरों को सुनकर अपनी राय बताने में संभवतः कम दिक्कत होगी। परन्तु बंगाल की अदालतों के निदेशक मंडल के दिनांक २५ अप्रैल १८०६ के न्यायिक पत्र के सार संक्षेप को सुनकर और अधिक हैरानी होगी। उसमें जो कुछ कहा गया है तथा उसका जो परिणाम होता है उससे वे अवश्य इस संबंध में अपनी राय कायम कर लेंगे। मैं इसके प्रति इस सदन का ध्यान आकृष्ट करने की अनुमति चाहूँगा क्यों कि इससे स्पष्ट होगा कि उस समय भारत के देशी लोगों के नैतिक चरित्र के संबंध में न्यायालय के निदेशक मंडल की क्या राय थी। तथापि उनमें से कुछ अब इसे तूल दे रहे हैं तथा बिल्कुल ही गलत रास्ता दिखा रहे हैं। स्वयं तो भ्रमित हैं ही, साथ ही भिन्न भिन्न राय भी व्यक्त कर रहे हैं।

'मिथ्या शपथ लेने के घृणित एवं भयावह अपराध के संबंध में हमें सभी दिशाओं से लगातार जानकारी प्राप्त हुई है जिससे हम अत्यंत व्यग्र हैं। न्यायालयों की न्यायिक कार्यवाहियों को बाधित करके गड़बड़ी पैदा करने के लिए ऐसा किया जाता है ताकि न्यायाधीश समस्त मौखिक गवाहियों को अविश्वासपूर्वक देखें और अन्वेषण के दौरान प्रत्यक्ष साक्षी को अपराधी की अपेक्षा अधिक शंका की दृष्टि से देखें।'' निदेशक मंडल ने नैतिक सिद्धांत की इस अधम स्थिति के संभावित कारणों पर अपनी न्यायपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ''देशी लोगों की शपथ के प्रति नैतिक बाध्यता अत्यंत कम दिखती है। इसमें उनके अंधविश्वासों की प्रकृति से उनके देवी देवताओं का अवनत चरित्र ही सिद्ध होता है । उनमें से अधिकांश में नैतिक समझदारी का भी

अभाव होता है। इस दृष्टि से उन्हें इस मिथ्या शपथ लेने से निजात दिलाने के लिए अधिकाधिक कठोर दंड के प्रावधान होने चाहिए ताकि समाज से इस तरह के अनैतिक कृत्य दूर हो सकें।''

यदि देशी लोगों का आम चरित्र इस तरह का होगा तो हम उनसे और आशा ही कैसे कर सकते हैं कि वे नैतिक गुणों एवं मानवता के बीच समझ बना पाएँगे या इसके विपरीत अधमता एवं निर्दयता के बीच भेद कर पाएँगे। वे कानून के वास्तविक उल्लंघनकर्ता ही सिद्ध होंगे। उनकी इस प्रकार की अपराधवृत्ति व्यक्तिगत अपराधवृत्ति नहीं होगी। यह तो लुटेरों के वर्ग की ही भावना बन जाएगी जो अत्यंत दुखद होगी। लेकिन मैं बंगाल पुलिस विषयक श्री डॉडस्वैल की रिपोर्ट से निम्नलिखत अंश उद्‌धृत कर रहा हूँ जिससे बिल्कुल अजीब एवं अत्यंत अनुचित दृढ़ धारणा की विरोधी स्थिति पैदा होगी। इसमें लिखा गया है कि हिंदू उदार एवं सहृदय प्रकृति के होते हैं। ''क्या मैं डकैतों (परंपरागत रूप से डकैती के धंधे में प्रवृत समुदाय) की बर्बरता के हजारों उदाहरण आपके समक्ष गिनाऊँ, क्या उनसे लगातार पीड़ित लोगों के दुख सुनाऊँ, क्या मैं इसे प्रत्येक स्वर में गुनगुनाऊँ, क्या इसके लिए मैं अपने प्राधिकारियों को ही सभी दृष्टि से दोषी ठहराऊँ, क्या सभी दोष उन्हीं के सिर पर मढ़ूँ ?'' (बंगाल की पुलिस की सामान्य स्थिति पर श्री डोडस्वैल की रिपोर्ट, पृ. ६०३.)

इस जघन्य एवं घृणित छवि में डकैती, बलात्कार तथा हत्या को भी अधम नहीं गिना जाता है। दलितों पर हुए अत्याचार की गाथाओं के ही कई खंड लिखे जा सकते हैं। इसकी प्रत्येक पंक्ति रक्तरंजित एवं भयावह ही होगी।''

मैं हिंदुओं के नैतिक पतन के संबंध में कुछ अन्य सार संक्षेप पटल पर रखी गई भारी रिपोर्ट के खंड से चयन करके प्रस्तुत कर सकता हूँ। लेकिन मैं पहले ही प्रस्तुत किए गए वेस्टमिंस्टर के आदरणीय पंडित डॉ. विसेंट के पत्र से एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ जिसमें देशी लोगों के नैतिक चरित्र के विषय में वे अपने पत्राचार में लिखते हैं, ''देशी लोगों में चारित्रिक स्थिति अत्यंत निम्न स्तर की ही देखी जाती है। मेरा ऐसे कई लोगों से पाला पडता है जो अत्यंत आदरणीय, धनी एवं प्रतिष्ठित होते हैं। मैं आपको दावे के साथ कहता हूं कि मैं आजतक किसी एक भी ऐसे व्यक्ति से नहीं मिला जिसका शपथ के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ रहने का लेशमात्र भी विचार हो जो उसे बिना किसी भी हिचकिचाहट के न तोड़ दे; चाहे इससे अपराध ही क्यों न प्रभावित हो और कार्यवाही हेतु जाँच पडताल एवं दंड पर कैसा ही प्रभाव क्यों न पड़े बशर्ते कि उसे आर्थिक लाभ मिलता हो। भाँति भाँति के चरित्रवाले देशी लोग यहाँ

देखने को मिलेंगे। मैं उनके बारे में कह रहा हूँ जो गैरईसाई हैं। अब मैं बिल्कुल स्पष्ट हूँ कि कुछ वर्षों में इंग्लैंड में भाँति भाँति के चरित्र के लोगों से मुझे किसी तरह का कोई पाला नहीं पडा है जो कि इस तरह का विचार रखते हों।''

भारत के देशी लोगों के नैतिक चरित्र को परिगणित करने के लिए साक्ष्यों की पड़ताल को पूरा करने से पूर्व मैं आपके समक्ष दो विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनके प्रति आप कृपया सावधानीपूर्ण रुख अपनाएँ क्यों कि ये मेरे द्वारा प्रस्तुत सभी अभिमतों पर लागू होते हैं। इनमें से पहले कथन को आपने सुना ही है जो कि अत्यंत प्रबुद्ध एवं आदरणीय लोगों के कथन हैं और जिन्हें बिना किसी विशिष्ट प्रश्न के प्रस्तुत किया गया है। इन से लोगों के मन-मस्तिष्क एवं रुचियों पर असर पड़ता है। इन में से कुछ और अभिमत उन लोगों के हैं जो कि उस समय उन स्थानों पर मौजूद थे जब ये अभिमत बने थे तथा उनका ध्यान इस विषय के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुआ था जबकि देशी लोग इस तह के दृष्टिकोण से परिपोषित थे। महोदय, इन विचारों के प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्यों कि जब हम लोगों से परस्पर विरोधी साक्ष्य संग्रहीत कर रहे थे तब हमने सहज रूप से कुछ ऐसी स्थितियाँ देखी थीं जिनसे साक्ष्यगत विसंगतियाँ सामने आएँगी। इस विचार को किस तरह लिया जाएगा, इस पर सोचे बिना मैं चाहूँगा कि हमारे विरोधी दो टूक शब्दों में अपनी बात कहें कि उन्होंने इन दोनों महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों में से किसे अधिक ध्यान से देखा है। मैंने आपके समक्ष जो साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं उन में से व्यक्तिगत रूप से उन्हें कौन से विरोधी लगते हैं। सर्वप्रथम, भारत के लोगों के पक्ष में उनके द्वारा विचार व्यक्त किए गए जिन्होंने इस देश में देखा एवं महसूस किया है। जिन्हें हम राष्ट्र के प्रति त्रुटियुक्त निर्णय करार दे सकते हैं क्यों कि उनमें व्यक्तिगत उदाहरणों के साक्ष्य ही प्रस्तुत किए गए हैं तथा सामान्य संदर्भ ही दिए गए हैं। दूसरे, वे भी इस बात से इन्कार नहीं करेंगे कि हमारी आम प्रकृति की दृढ़ता के कारण उन्होंने अपने विचार कुछ हद तक व्यक्त किए तथा राय दी जो कि अतींद्रिय है तथा जिस समय विशेष संदर्भ में अनुभव दर्ज किए गए हैं, वे पूर्वाग्रह युक्त स्थिति में ही किए गए हैं।

महोदय, हिंदुस्तान के लोगों की आम चरित्रहीनता के प्रमाण स्वरूप आपके समक्ष साक्ष्यों को प्रस्तुत करने के उपरांत अब हमें अपने विरोधियों द्वारा प्रस्तुत उस निर्णय के औचित्य के बारे में सोचना चाहिए कि उनका चरित्र सामान्यतः हमारे चरित्र के समकक्ष ही है, जी नहीं, हमसे भी उत्कृष्ट, इस देश के लोगों के चरित्र से भी उत्कृष्ट है। महोदय, हमने उन लोगों के विषय में लिखने वाले विभिन्न यात्रियों के यात्रा वृतांत

हैं जिनकी सब की अपनी अपनी भिन्न भिन्न मंशा है। सचाई से इन्हें देखा जाए तो जहां थोड़ा भी संदेह था वहां हमने उसकी गहरी छानबीन की है। लेकिन इस तरह की भिन्नता मैं ने इससे पहले कभी भी अनुभव नहीं की है। तथापि महोदय, हम अपने कार्यों को अपने विरोधियों के द्वारा प्रस्तुत स्थिति की समीक्षा कर के ही अंजाम दे पाए हैं। यदि हमने इस में थोड़ी भी कोताही बरती होती तो देशी लोगों के नैतिक चरित्र को भिन्न रूप में मान लिया गया होता। अतः हमने सही प्रस्तुतीकरण किया है। लेकिन उनके चरित्र की कालिमा में हमारे विरोधियों ने रंग भरने की कोशिश की। उनकी कोशिश अगर कामयाब हो गई होती तो देशी लोगों का नैतिक चरित्र उत्कृष्ट सिद्ध हो गया होता। इससे हम स्पष्ट रूप से इस निर्णय पर अवश्य पहुँचते हैं कि हमारे विरोधियों के पास या तो सूचनाओं का अभाव है या फिर वे पूर्वाग्रहों से ग्रसित हुए हैं। लेकिन हमने अपनी चर्चा से इसे खुशी से निपटा दिया है हालाँकि इस विशिष्ट विषय पर धर्म का पूर्वाग्रह अवश्य रहा है तथा हमने उत्कृष्ट उदाहरणों को प्रस्तुत करके विरोधियों के तर्कों का स्पष्टीकरण करते हुए उन्हें निरस्त करके जवाब दिया है जिससे वे हतप्रभ हो गए हैं।

महोदय, मैं ने पहले ही कुछ स्थितियों की चर्चा की है, तथा एक विशिष्ट दृष्टांत भी दिया है कि ईस्ट इंडीज से संबंधित धर्म एवं नैतिकतागत इस विषय पर अत्यंत प्रबुद्ध एवं सुसंगत सूचना प्राप्त व्यक्ति भी इतने अधिक लापरवाह एवं शोचनीय स्थिति में नावाकिफ हैं। धर्म के विषय की दृष्टि से यदि मैं इसे व्याख्यायित करूँ तो वे इस हद तक अदक्ष एवं पिछड़े हुए हैं : हम सामान्यतः आंग्लभारतीय (एंग्लो इंडियन) दृष्टि से उन्हें देखते हैं तो इससे हमारा निर्णय प्रभावित होता है तथा वे इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दिखते हैं, कुख्यात नहीं। हमें पंचम रिपोर्ट में इस संबंध में विचित्र निदर्शन मिलता है जिसे मैंने उद्धृत भी किया है, क्यों कि मैं लेखक के चरित्र को अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का पाता हूँ। अन्य सभी प्रकार से उनकी प्रामाणिकता संदेहों से परे है। मैं श्री डोडस्वैल के संबंध में बात कर रहा हूँ। मैंने सदन के समक्ष हाल ही में पुलीस की स्थिति का जो वृत्तान्त पढ़कर सुनाया, वह त्रुटिपूर्ण, गलत भावना की छाप से परिपूर्ण है। कहीं कहीं वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ भी करते हैं कि इन भयावह प्रथाओं के लिए उन्हें पूरी तरह से दंडित किया जाना चाहिए। ''उन अपराध की जड़ों को नष्ट करने के लिए लोगों के भ्रष्ट नैतिक चरित्र के लिए जवाबदेह बुराइयों के मूल स्रोत को ही खत्म करना चाहिए।'' उन्हों ने आगे लिखा है (तथा मैं आपको यह बताऊँ कि सज्जन यह अवश्य देखें जो कि श्री डोडस्वैल ने अत्यंत न्यायोचित रूप से सामान्य एवं

नैतिक कारणों से अपराधों का वर्णन अवश्य किया है और केवल व्यक्तिगत अपराधों की ही बात नहीं की है अपितु चरित्र हीनता की बात भी की है।) कि "हमें बुराइयों को दूर करने के लिए उपयोगी माध्यम की तलाश करनी चाहिए; जिससे वे मात्र आम प्रकृति की अपराधवृत्ति से ही नहीं तो अनैतिकता की भावना से भी दूर रहें। इस दुनिया में ऐसे जघन्य अपराध के लिए दंड का विधान हो तथा उनके अपने धार्मिक विचारों से उनकी इस दिशा में भावी रणनीति बनाई जाए। यह कार्य संभवतः उतना कठिन नहीं है जितना कि प्रथम दृष्टया दिखता है। हिंदू साधना की पुरानी पद्धति के कुछ अवशेष अब भी विद्यमान हैं। मुसलमानी धार्मिक संस्थाएँ भी अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं। दोनों को पुनरुज्जीवित किया जाए तथा धीरे धीरे एक नियत प्रणाली में ढाला जाए जो समुदाय के इन दोनों वर्गो के अनुरूप हो।'

हम इस अंश से अप्रतिरोध्य रूप से इस निर्णय पर पहुँचते हैं तथा मैं स्वीकार भी करता हूँ कि यह सब अन्य विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप भी सुझाया जाना चाहिए कि हमारे विरोधियों में से कई को दिमाग में यह बात आ गई है कि ईसाईयत एवं भारत दोनों एक दूसरे के लिए असंगत हैं। यह विचार पूर्णतः परस्पर विरोधी विचार है। हमें इस सदन के भूतपूर्व सम्माननीय सदस्यों (इस देश के उच्च सत्ताधीश) के उन उद्‌गारों की कद्र करनी चाहिए कि यूरोपीय लोगों ने अ-दीक्षित रूप में भारत में प्रवेश किया।" मैं इतनी उत्कृष्ट स्थिति का हिमायती नहीं हूँ; लेकिन श्री बर्क ने शायद अपनी धारणा को इतने दृढ़ रूप में प्रस्तुत नहीं किया होगा जितना हमने इस चर्चा के दौरान प्रस्तुत किया। जब कि हम जानते हैं कि उन जैसा एक प्रबुद्ध जन एवं सम्माननीय व्यक्ति एक लम्बे अरसे तक भारत में रहा, वहां व्याप्त नैतिक सिद्धांतो को उसने देखा, उनमें निहित दुर्गणों को दूर करने का विचार उसने किया क्यों कि किसी भी समाज की संरचना इतनी जटिल होती है और उससे बुराई को ढूँढ निकालना और उसे दूर करने के उपाय सोचना सरल नहीं होता है। उन्होंने कभी भी ईसाई धर्म की शरण लेने की बात नहीं कही लेकिन हिंदू धर्म एवं मुसलमानों के धर्म से बुराइयों को निकाल कर दूर फैंकने की बात अवश्य कही क्यों कि वे उनमें अपेक्षित सुधार चाहते थे।

बीमारी की सांघातिक विषाक्तता की बात से सहमत होते हुए भी मैं उनके निदान के उपाय के साथ सहमत नही हूँ। इस विषय में मेरा मत बिल्कुल भिन्न है। हमें ईश्वर का अशीर्वाद प्राप्त है। हम इस उद्देश्य के अनुरूप उपायों की तलाश करने में पूर्णतः सक्षम हैं। महोदय, वह उपाय ईसाईकरण है। मैं इसे उपयुक्त और न्यायोजित

उपाय मानता हूँ क्यों कि ईसाईयत में ही उसका सत्यनिष्ठ असली चरित्र निहित है। उसके बिना इसकी अभिव्यक्ति अधूरी ही है । इससे वंचितों को संरक्षण प्राप्त होता है तथा उन्हें भी संरक्षण प्राप्त होता है जिन्हें धार्मिक दार्शनिक दृष्टि से घृणित रूप में देखा जाता है या जिन्हें तिरस्कारपूर्ण ढंग से नीचा समझा जाता है। ईसाईधर्म के प्रथम प्राख्यान से ही उस महान कर्ता ने यह घोषणा कर दी थी कि 'गरीबों के लिए वह खुशी का समाचार लेकर आया है'। वह उनके चरित्र के प्रति निष्ठावान है । ईसाईधर्म अज्ञानी, जरूरतमंद, दुखी, तथा वंचितों के लिए अब भी सहायक है। महोदय, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ तथा वचन देता हूँ कि नैतिक बीमारियों का इलाज समय रहते करना अत्यंत आवश्यक है। यदि यह नहीं किया गया तो इससे प्रभवन्विता कम होगी। अतः उनका जबतक पूरी तरह से निदान नहीं किया जाता तब तक हमें इसी तरह के दुखद, शोचनीय एवं कष्टकारक तथा अपमानजनक कथन सुनने होंगे जिन्हें आप हाल ही में सुनते आ रहे हैं। महोदय, भरोसा कीजिए, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इस सदन में ऐसे बहुत से लोग होंगे जो मुझ पर इस तरह का आरोप कदाचित ही लगाएँगे कि ऐसा करके हम अपनी प्रभुता का प्रदर्शन करना चाहते हैं तथा उनकी दुखद एवं शोचनीय स्थिति से फायदा उठाना चाहते हैं। या फिर हम अपनी उत्कृष्टता के प्रदर्शन के साथ उन्हें विजयी मुस्कान से गर्व के साथ देखना चाहते हैं । जिस विषय पर मैं वर्षों से जोर देता रहा हूँ उस विषय पर मैं उन लोगों की भलाई के लिए आप पर प्रभाव डालने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप हमें इस उपाय हेतु अनुप्रयोग करने दें तथा इससे निजात पाने में हमारा साथ दें। मैं बार बार यह घोषणा कर रहा हूँ कि इसके लिए निस्संदेह एक ही उपाय है। ईश्वर हमें अनुमति नहीं देते कि हम इस धारणा से निस्सहाय एवं उदास होकर बैठे रहें कि जो बुराइयाँ व्याप्त हैं उनसे छुटकारा मिलने वाला नहीं है। महोदय, इस तरह की धारणा पूर्णतः बपतिस्मा ही होगी। हम यह राय कायम कर लें कि ईश्वर ने हमें तथा पूर्वी भारतीय हमारी सहयोगी प्रजा दोनों को अपने अपने अनुरूप बनाया है। वे जिस तरह के बनाए गए हैं उसी तरह के बने रहें तथा अबतक जिस तरह से थे उसी विपन्न एवं अधम स्थिति में बने रहें। नहीं, महोदय, वे इस समय जिस गर्त में डूबे हुए हैं उनसे निजात पाने के प्रावधान हैं। मैं आपका आह्वन कर रहा हूँ कि आप उन्हें इस गर्त से निजात दिलाने के तरीके का अनुप्रयोग करने हेतु रास्ता दिखाएँ। क्यों कि, महोदय, मुझे आशा है कि अभी वहाँ ईसाई धर्म का आलोक पड़ने में कुछ अवरोध है। वहाँ अभी ईसाई धर्म का आलोक फैला नहीं है लेकिन उसके आलोक से वहाँ के लोगों के हृदय

पूर्णतः आह्लादित हो जाएँगे तथा वे स्वर्णिम सत्य-प्रेम एवं दिलासा के आलोक से जगमगा जाएँगे।

अतः, महोदय, मेरे खिलाफ जो आरोप लगाए गए हैं उन्हें मैं रोष के साथ अस्वीकृत करता हूँ तथा भारत की समग्र देशी जनता के खिलाफ अभियोगपत्र दाखिल करता हूँ। ''उन्होंने मेरी दुश्मनी को उकसाने के लिए ऐसा क्यों कर किया ?'' महोदय, मैंने काफी लम्बे समय तक यह महत्वपूर्ण बात सीखी है कि चाटुकार मित्र नहीं होते। नहीं महोदय, वे तो घातक दुश्मन होते हैं । अतः हमारे विरोधी इस तथ्य के प्रति ध्यान दें कि वे हिंदुओं के प्रति मैत्रीपूर्ण रवैया अपना रहे हैं। नहीं, महोदय, मैं नहीं बल्कि वे लोग भारत के देशी लोगों के शत्रु हैं जो कि खोखली चाटुकारितापूर्ण भाषा एवं मधुर वाणी का प्रयोग करके उन्हें अपनी यथार्थ दयनीय स्थिति से अवगत नहीं होने दे रहे हैं। हमारे अधिकांश विरोधियों ने हमें कहा कि देशी लोगों की कुछ जातियां तो इतनी निकृष्ट हैं जितने पशु होते हैं। जी हाँ, महोदय, मैं इससे भलीभाँति अवगत हूँ। इसीलिए मैं इस अनौचित्यपूर्ण असमानता को दूर करना चाहता हूँ। इन बेचारे लोगों को उनकी पशुवत् स्थिति से उठाकर, उन्हें उनकी प्रकृति के समान उच्च स्थिति पर आसीन करना चाहता हूँ। मैं आपके समक्ष उनका वास्तविक चरित्र प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ । मैं उनकी यथार्थ स्थिति के संबंध में तथा उनके चरित्र से आपको अवगत करा रहा हूँ। अतः मैं उनके असली मित्र की भूमिका प्रस्तुत कर रहा हूं। महोदय, सच्ची मित्रता तो साशंक होती है एवं चिंतित करती है; प्रायः चिंतातुर हो कर बुराइयों के प्रति सचेत करती है तथा जिससे मित्रता होती है उसका हित चिंतन करती है । उसका बुरा तो कदापि नहीं सोचा जाता । उसकी सुखसमृद्धि में बढ़ोतरी ही सोची जाती है।

महोदय, भारत के देशी लोगों के प्रति मित्रता की निष्कपट एवं सच्ची भावना से अनुप्राणित होने की वजह से उनके धार्मिक एवं नैतिक हित निस्संदेह हमारी चिंता के मुख्य विषय हो गए हैं। लेकिन हमारी ओर से किए जाने वाले सुधारों की सिफारिशों से उनके आत्मिक कल्याण की अपेक्षा उनके सांसारिक जीवन में परिवर्तन आएगा क्यों कि आज वे ऐसी स्थिति में जी रहे हैं जिसके लिए हमें कम से कम सामान्य मानवता की दृष्टि से भी धार्मिक अनुदेशों के तहत उन्हें ईसाई धर्म के अलोक में लाना होगा। नहीं, महोदय, मैं इस सदन से कुछ भी तथ्य नहीं छुपाऊँगा। तथ्य यह है कि इस सबसे ऊपर हमें आशा है कि हम उन्हें उस पथ पर अग्रसित करेंगे जहाँ वे अनंत परमानंद की अनुभूति करेंगे । इससे मेरा हृदय अत्यंत प्रफुल्लित है। अभी भावी

स्थिति के संबंध में ऐसा नहीं है कि कोई प्रश्न नहीं है । या मुझे इसे स्वीकार करने में कोई भी हिचक नहीं है कि वे ईसाई धर्म के आलोक में आने के पश्चात सुख-शांति से परिप्लावित हो जाएँगे तथा उनकी भौतिक सुखसमृद्धि एवं नैतिक स्तर में भी वृद्धि होगी।

निश्चित रूप से मुझे यहाँ सिद्ध करके बताने की आवश्यकता नहीं है कि हम इस देश में जो कुछ भौतिक सुखसुविधाओं का आनंद उठा रहे हैं उसे व्यापक वर्ग के लोगों को भी उठाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि कोई भी देश प्राचीन काल में या आधुनिक काल में हमारे अमूल्य संविधान से लाभ नहीं उठा पाया है तो उसे हमारे धार्मिक एवं नैतिक उच्चादर्शों से लाभ उठाने देना चाहिए क्यों कि उसके ऊपर उसी तरह का अनुग्रह या कृपादृष्टि होगी जिससे मैं अपने दृढ़ विश्वास के साथ व्यक्त कर चुका हूँ कि इस देश में ईसाई धर्म का प्रभाव दुनिया के किसी भी देश की अपेक्षा अधिक है।''

लेकिन निश्चित रूप से, भारत के देशी लोगों की नैतिक स्थिति के संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् अब मुझे उनके विभिन्न धार्मिक विश्वासों के संबंध में हवाला देने या उनकी सामाजिक स्थिति की तस्वीर प्रस्तुत करने तथा उनकी अमानवीय स्थिति के संबंध में यह बताने की भी आवश्यकता नहीं है कि हमारे मानवीय स्तर पर किए जानेवाले प्रयासों की वजह से उनकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन आने लगेगा। क्योंकि इस सभा के प्रबुद्ध लोग यह भलीभाँति जानते ही हैं तथा उन्हें इस की याद दिलाने की शायद ही आवश्यकता हो कि विश्व के नैतिक नियंता ने बुराइयों और दुखों के बीच दृढ़ संबंध संकेतित कर ही दिया है। हालाँकि इस समय वे पृथक रूप में विभाजित दिख रहे हैं। लोगों ने बुराइयों को खुशी खुशी जैसे स्वीकार ही कर लिया है। महोदय, भारत की यह बुराई आज इसलिए नहीं है कि निरंकुश सरकार ने कभी इन्हें परिवर्तित ही नहीं किया तथा आगे जारी ही नहीं रखा। कुछ देशों में, खासकर महान देशों में, मानवता निरंकुश, शासन के पग तले कराहती रही लेकिन वहाँ प्रायः अधिक पारिवारिक एवं सामाजिक खुशहाली भी देखने को मिल सकती है। हमारे एक महान कविने इस पर्यवेक्षण को बड़े ही सुंदर ढंग से निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है :

चुपके-चुपके, आँधी की तरह तो कभी नहीं, जीवन की खुशहाली की धारा निश्चल बहती है''।

तथ मुख्य एवं व्यापक रूप से अपनी इस वाणी को स्वर देते हुए वह कहता है :

''उन समस्त बुराईयों को जिन्हें मानव हृदय झेलता है कितने कम हैं वे,
चाहे हों दरबार, राजा या कुछ और जिन्होंने सोचा हो
या इसका निदान खोजा हो।''

लेकिन हिंदुस्तान की ये बुराइयां अत्यंत पारिवारिक प्रकार की हैं। यह बताने की मुझे कतई जरूरत नहीं है कि ये बुराइयां वर्ण व्यवस्था पर आधारित धार्मिक ढाँचे से उभरी हैं। वे अपना विकराल रूप दिखा रही हैं। लेकिन इनमें राजनीतिक चाल का भी हाथ कम नहीं है। हमें निश्चित रूप से देखना है कि ब्रिटिश लोगों का हृदय इस प्रथा के प्रति विचलित होता है क्यों कि यह तो प्रकृति के साथ युद्ध करनेवाली बात ही होगी। इससे वहाँ ऐसी विषम स्थिति बन गई है कि वहाँ का समुदाय पूर्ण निराशावादी बनी गया है। वह इसकी असाध्य रूप से अधीनता स्वीकार कर चुका है। महोदय, यह इस देश की महानता ही है कि समाज के उच्चवर्ग से कोई भी व्यक्ति समाज को इन दुर्गुणों से मुक्त बनाने के लिए सामने नहीं आया है। वास्तव में, हम सब इन दृष्टांतों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं कि लोग अपने मूल गरीबी एवं तंगहाली के माहौल से बाहर आकर अपने सत्प्रयासों से सर्वोच्च ऊँचाई को छूने में सफल होते रहे हैं। हमारा मुक्त संविधान ऐसे लोगों को आगे बढ़ने तथा प्रगति के पथ पर अग्रसित होने के अवसर प्रदान करता है। हम उन प्रांतों में अपनी शक्तियों का उपयोग भी कर रहे हैं जहाँ ऐसी बुराइयां हैं। कहीं कहीं गुलामी की प्रथा भी विद्यमान है। सामान्य रूप से (वेस्टइंडीझ में इसके होने पर कितनी कृत्रिम बाधाओं का हमें सामना करना पड़ा) ये जहाँ भी हैं वहाँ मानवीय स्थिति अत्यंत अधम स्थिति में है। इसे प्रकृति की सत्ता के साथ छेड़छाड़ करना ही कहा जाएगा। लेकिन वर्णव्यवस्था जैसी दिल दहला देने वाली अत्यंत बर्बर बुराई शायद ईश्वर की अन्य किसी सृष्टि में भी नहीं होगी। यह मेरे सम्माननीय सज्जन व्यक्ति की अपनी ही तरह की व्याख्या है जिसमें मानव के अधिकार की प्रतिष्ठा की बात झलकती है। मैं अपने विरोधियों की तरह इस प्रश्न पर विचार नहीं करता। इस देश में जो प्रथा बहुत पहले से प्रवर्तमान है उसकी इस तरह से व्याख्या नहीं करता। क्या भारत के देशी लोग हमारी सहयोगी जनता नहीं हैं ? वे समस्त लाभों को प्राप्त करने के हकदार नहीं हैं ? क्या हम उनके समस्त अधिकार उन्हें सुरक्षित ढंग से नहीं दे सकते ? यदि हम जो कुछ कह रहे हैं, महसूस कर रहे हैं या फिर हम जिन अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं, हम उन्हें भी इस समस्त कृपा दृष्टि

को प्राप्त करने की ओर उन्मुख क्यों न करें ? महोदय, अपने कथन के न्यायसंगत दृष्टिकोण के संबंध में मैं कह रहा हूँ कि हमारे विरोधियों ने वहां ईसाई धर्म के आलोक को न फैलाने की जो बात की है वह सरासर गलत है, सत्य से पूर्णतः परे है क्यों कि ईसाई धर्म के आलोक से वहाँ के नैतिक चरित्र में सुधार आएगा। महोदय, मुझे आशा व्यक्त करनी चाहिए कि यदि वे अनिच्छापूर्वक भी इस ओर अग्रसित होते हैं तो भी इसके कुछ न कुछ परिणाम होंगे ही। क्योंकि भारत के देशी लोगों को इस दिशा में सुधारना अत्यंत आवश्यक हो गया है । इसका वे यदि पूर्णतः परित्याग करेंगे तो भी वे इसके संबंध में अनिच्छा से अपना मत व्यक्त करेंगे, तथा अत्यंत प्रकृट रूप से अपनी चिंता व्यक्त करेंगे। मुझे सदन को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हल्केपन के लिए नहीं अपितु इनके लागू करने की हर्षध्वनि में खुशी व्यक्त ही गई है। लेकिन यह कहना भी ठीक होगा कि सम्माननीय सदस्यों में से एक सदस्य ने अपनी राय सीधे और साफ ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि ''सभी धर्मो ने इस विश्व के एक नियंता के होने के संबंधमें अपनी स्वीकृति दी है। इसी तरह के सत्य की अभिव्यक्ति कुछ भिन्न प्रकार से एक ब्राह्मण द्वारा की गई है जिसने हमारी मिशनरियों में से एक को कहा कि स्वर्ग एक बड़ा भव्य महल है जिस तक पहुँचने के लिए कई भिन्न भिन्न रास्ते हैं, प्रत्येक राष्ट्र या व्यक्ति उनमें से किसी भी रास्ते को अपनी रुचि एवं खुशी के अनुसार चुन सकता है।'' लेकिन जैसा कि मैं ने पहले ही कहा है, हमारे विरोधियों को याद रखना चाहिए कि ईसाई धर्म इस समय विद्यमान तथा भावी के सभी धर्मों पर स्वतंत्र रूप से अपना व्यापक प्रभाव छोड़ने में सक्षम है। प्रकट रूप से संदेहवादियों ने यह भी कहा है कि अब तक विद्यमान संस्थाओं से यह बिल्कुल परे है । यह लोगों के भौतिक हित एवं सुखसुविधाओं की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल है । ऐसा कहीं भी कोई देश नहीं था जिसकी तुलना में भारत को उसके सौहार्द की आवश्यकता अधिक न रही हो।

किसी भी समाज के लोगों के सुख तथा सद्गुणों सम्बन्धी कारणों की जाँच करने पर हम देख सकतें है कि, भले ही लोगों को अत्यधिक भौतिक सुविधायें उपलब्ध हों तो भी लोग एक विषय में असहमत नहीं हो सकते कि बहुपत्नीत्व प्रथा के कारण उनके पारिवारिक जीवन में अनिष्ट आते हैं तथा सुख नष्ट हो जाता है। यहाँ पर फिर एक बार बहुपत्नीत्व प्रथा के कुप्रभाव को सिद्ध करने के लिये एक गैर ईसाई व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। वह व्यक्ति हैं प्रमुख श्री मोन्टेस्क, जो अत्यन्त ज्ञानी होने के साथ ही अत्यन्त समझदार भी थें। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण से

उद्‌भूत द्वेष, छल तथा कपट, मत्सर, क्रूरता आक्रमकता तथा निराशाओं का जीवंत चित्र हम फारसी लेखकों के पत्रों में देख सकते हैं। भारतीय स्त्रियों के साथ हो रहे अलगाव और अत्याचारपूर्ण आचरण का भी कोई निश्चित समाधान हम ला सकते हैं। हमारे ही एक मित्र (श्री स्मिथ) ने अपने धाराशास्त्री के नाते लिखे हुए लेखों में कुछ बिन्दुओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, स्त्रियों को भारत में तिरस्कारपूर्ण तथा हल्की भाषा में संबोधित किया जाता है। हम यह स्थिति हिन्दू रीतिरिवाज तथा संस्थाओं में भी देख सकते हैं। विवाहित जीवन के लाभ, सुख, वास्तविक सम्मान, पद आदि का आधार स्त्रियों के साथ होनेवाले व्यवहार के ऊपर है, जो हमारे ईसाई देश में प्रत्येक स्त्री को प्राप्त है। प्रत्येक ईसाई देश में स्त्रियों को सुख, मान तथा अन्य अनेक लाभ प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। परन्तु भारतीय समाज में, स्त्रियों को ऐसी समानता प्राप्त नहीं थी जिसका प्रमाण बहुपत्नीत्व प्रथा है।

भारत में दूसरी एक और अधिक विचित्र कुरीति देखने में आती है। वह है बालिकाओं को दूधपीती करने का रिवाज। यदि इसाईधर्म के कारण ऐसे कृत्य को घृणित नहीं समझा जाता तो उसके उपर प्रकृति अपना अंकुश लगायेगी ऐसी मिथ्या धारणा रख कर हम भी बैठे ही रहते । हम विवेकपूर्ण है इसलिये ऐसे विषय को अनदेखा और अनसुना नहीं कर सकते। क्योंकि संसार में मोक्ष कोई सुधार, कला, सामाजिक भौतिक सुविधाओं या स्वतंत्रता की भावना का ऋणी नहीं है। मेरे सब ईसाई मित्र इस बात को स्पष्टँ रूप से स्वीकार करेगें कि सब प्राचीन दुखों में विश्व के समस्त देशों में कभी भी बालिकाओं की हत्या जैसा अतिशय घृणास्पद कुरिवाज उन्होंने कहीं भी नहीं देखा होगा। अत्यन्त दुःख के साथ कह सकते हैं कि भारत तथा चीन जैसे देशों में ईसाइ धर्म का प्रकाश पहुंचा नहीं होने के कारण यह घृणास्पद कार्य, सत्कर्म गिना जाता है तथा अधिक मात्रा में इसका आचरण होता है। इसके अलावा भारत में रोगी तथा वृद्ध लोगों के प्रति उनके ही निकट के सम्बन्धियों के द्वारा लापरवाही तथा अवहेलना अत्यधिक मात्रा में देखी जाती है।

अभी भी प्रचलन में है एसे एक रिवाज के आचरण के विषय में अधिक आग्रहपूर्वक कहना मेरे लिये आवश्यक है। क्योंकि हम में से ही, भारत की समस्याओं के जानकार अनेक महानुभाव दृढतापूर्वक यह कहते हैं कि पहले की जो भी बात हो, परन्तु इस प्रकार का कुरिवाज़ अब लगभग सभी स्थानों पर बंद हो गया है। संसद के इस गृह के समस्त सभ्यों ने उचित ही धारणा बनाई होगी कि मैं पति की चिता में जलाई जानेवाली विधवा स्त्रियों का (सतीप्रथा का) उल्लेख कर रहा हूँ। अत्यन्त

प्रख्यात लेखक श्री डोव ने अनेक वर्षों पूर्व यह कथन दिया था कि यह रिवाज अब समाप्त हो गया है। परन्तु अत्यन्त खेद के साथ मुझे कहना पड रहा है कि यह विधान सत्य नहीं है। क्योंकि श्री बर्नीयर के कथनानुसार इस रिवाज में मुस्लिम शासनकाल के दरमियान लोगों की श्रद्धा कम हुई थी। परन्तु इस रिवाज पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया था। परिणाम स्वरूप यह रिवाज धीरे धीरे कम होता गया, परन्तु हमारे शासन में इस देश में यह रिवाज फिर से बढ गया है।

केवल कोलकाता के आसपास के तीन मील के क्षेत्र में, प्रतिवर्ष सती होनेवाली स्त्रियों की संख्या निश्चित करने के लिये, कुछ वर्ष पहले अनेक ईसाई धर्मप्रचारकों ने अत्यधिक परिश्रम किया था। संसद का यह गृह यह जानकर आश्चर्यचकित रह जायेगा कि इस तीस मील जैसे छोटे क्षेत्र में भी छः महिनों में १३० स्त्रियों को सती किया गया था। सन् १८०३ में, इसी क्षेत्र में यह संख्या बढ कर ३७५ हो गई थी, जिसमें एक तो केवल ११ वर्ष की बालिका थी। मुझे यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से बताना है कि यह सही संख्या प्राप्त करने के लिये बहुत प्रयास किया गया था। कितने ही लोगों को, इस भयानक कृत्य का भोग बननेवाली असंख्य स्त्रियों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये विशेष रूप से काम दिया था। प्रत्यक्ष देखने के पश्चात् घटना स्थल, सती की गई स्त्री तथा अन्य आवश्यक जानकारी नियमित रूप से प्रमाणित की जाती थी। इतना सुनने के बाद आप सब को मैं यह बताऊँगा कि प्रतिवर्ष केवल बंगाल प्रान्त में ही, सती होनेवाली स्त्रियों की संख्या लगभग १०,००० थी, तो आप में से अनेकों को बिलकुल ही आश्चर्य नहीं होगा। इन स्त्रियों को उनके बालकों से जबरदस्ती अलग किया जाता था। अपने पिता को गवाँ देने के पश्चात जब जीने के लिये तथा पोषण के लिये अपनी माता की अनिवार्य आवश्यकता होती थी, उस समय बालकों से माता को भी क्रूरतापूर्वक अलग किया जाता था। सर रोबर्ट चेम्बर्स के आदरणीय भ्राता भारत की प्रादेशिक भाषा पर असाधारण प्रभुत्व रखते थे। अनेक वर्षों पूर्व उन्होंने भी प्रति वर्ष इतनी ही स्त्रियों के सती होने का निष्कर्ष निकाला था।

हमें न तो अपनी प्रशंसा करनी चाहिये, न ही हमें अपने आपको आश्वस्त करना चाहिये कि अनेक लोगों के मतानुसार इन स्त्रियों की अपमृत्यु स्वेच्छा से होती है। फिर से यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि श्री बर्नीयर के अनुसार स्त्रियों को मजबूत बांस के साथ बांध दिया जाता था अथवा कभी पानी में भिगोये हुए भारी रस्सों से बांध दिया जाता था। यह इस बात की सावधानी थी कि आग के भय से वह भाग न जाए। आग प्रकट होते ही बांधने वाले सब पुरुष दौड कर दूर चले जाते थे

ऐसा श्री मार्शमेन को किसी ने कहा था। श्री बर्नीयर आगे कहते हैं कि, यदि वे असहाय स्त्रियां आग से बचने के लिये दूर भाग जाने का प्रयास करती थीं तब पिशाच अर्थात् ब्राह्मण अपने शिकार (स्त्रियों) को लम्बे बाँस से धकेल कर फिर से आग में डाल लेदे थे। अनेक बार स्त्रियों के आत्मीयजन उसे जीवित रखने के लिये समझाने में सफल होते थे। अनेक बार स्त्रियों को उसके भविष्य का डर बता कर सती होने के लिये अपना बलिदान दे देने के लिये तैयार किया जाता था। वे भविष्य की आशा तथा भय इन दोनों बातों के डर को प्रबलरूप से अनुभव करती थीं। इस प्रकार अपने भविष्य से भयभीत स्त्रियों को ब्राह्मण मिथ्या बातें करके आश्वासन देते थे कि यदि वे स्वयं को अग्नि को समर्पित कर देंगी तो उन्हें अमरत्व प्राप्त होगा, अन्यथा उन्हें अत्यन्त कठिन तथा पराधीनता पूर्ण जीवन जीना पडेगा तथा उसके जीवन में कठिन परिश्रम, अपमान, तथा कलंक ही बचेगा।

श्रीमान, इस प्रकार मिथ्या सिद्धांतों के आधार पर स्त्रियों का भोग लिया जाता है। यदि आधारभूत जानकारी के आधार पर भारत में बार बार घटनेवाली सती होने की घटना के भयंकर दृश्यों का वर्णन किया जाए तो यहाँ उपस्थित लोगों में, अपने स्वभाव के अनुसार सर्वाधिक कठोर हृदयवाला व्यक्ति भी काँप उठेगा। भारत के लोग तो इस प्रकार की घटना के आदी हैं। मेरे एक निजी मित्र, जिन्होंने ऐसी एक घटना प्रत्यक्ष देखी थी, के मतानुसार घनी आबादी वाले इलाकों में भी इस घटना के लिये लोगों का समूह एकत्र नहीं होता है। सबसे अधिक दुखदायक बात तो यह है कि इस भयंकर घटना के साथ लोगों का कोई भी लेनादेना न हो इतना निम्नकक्षा का व्यवहार दिखाई देता है। जिस प्रकार इस देश के निम्नवर्ग के लोग छोटे छोटे प्राणियों को क्रूरता से मारने के पश्चात् आसुरी आनन्द प्राप्त करते हैं वैसा ही आनन्द वे इस समय प्राप्त करते हैं। फिर भी मैं ऐसी घृणास्पद घटना आपके समक्ष प्रस्तुत नहीं करूंगा। इसके पश्चात् भी मुझे पूर्ण रूप से याद है कि जिस स्थान पर आज मैं खडा हूं, उसी स्थान से ऐसे ही किसी अवसर पर एक सदगृहस्थ (श्री फॉक्स) ने कहा था, 'किसी का दुख बहरे कान से सुनना कोई मानवता नहीं है। दूसरों के दुख से दुखित होकर उनको उससे मुक्त करने के लिये आगे जाने में मानवता है।' मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि लोग भी ऐसे कुरिवाज को स्थायी रूप से शान्ति से सहन कर लेनेवाले नहीं हैं। वे भी इन कुरिवाजों को रोकने के लिये कानूनी कार्यवाही करने के हरसंभव प्रयास करेंगे। जहाँ तक हम भारत को ब्रिटन के सम्राज्य का भाग तथा वहाँ के निवासियों को अपनी साथी प्रजा नहीं मानेंगे तब तक यही स्थिति बनी रहेगी।

भारतीयों की यह जंगलीपन की छवि भारत की अच्छी छवि को मृतःप्राय कर देती है। यदि इस प्रकार के व्यवहार तथा रिवाज इग्लैंड के किसी भी भाग में होते तो हमारे लोग ऐसी लापरवाही नहीं बरतते। इस विषय के प्रति प्रजा को जागृत कर के इस दूषण को दूर करने के तथा कोई हल निकालने के हर प्रकार के प्रयत्न किये होते। परन्तु यहाँ पर फिर एक बार अपने देशवासियों की गलती है। वह हमारे देश तथा भारत के लिये अलग अलग आदर्श, नीतियाँ तथा मनोभाव अपनाने के लिये गलत तरीके से प्रेरित हुए हैं।

भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की शक्तियों का इतना प्रमाण, यहाँ पर संसद के समक्ष, इस चर्चा के दौरान, प्रस्तुत करने के पश्चात्, किसी भी पूर्वाग्रह के बिना हम कह सकते हैं कि वह ज्ञान तथा बुद्धि में भारतीयों से बढ कर है। फिर भी मैं आग्रहपूर्वक यह विचार प्रस्तुत करूंगा कि वे भारत के तथा ब्रिटन के विषय में निर्णय करते समय अलग अलग मापदंड रखते हैं। यही बात उनकी योग्यता के विषय में सन्देह उत्पन्न करती है, क्योंकि यह प्रश्न ब्रिटन के धर्म, उसकी नीतियों, उसके रीतिरिवाजों का ब्रिटिश भारत के निवासियों को परिचय कराने का है।

अब मैं एक दूसरे प्रकार की दुष्टता के विषय में बात करता हूँ। यह भी उन कुरिवाजों के पीछे छीपी हुई नहीं होती तो इतने ही धिक्कार के पात्र होती। मैं उनके अत्यन्त तिरस्कार के पात्र तथा रक्तरंजित धार्मिक रिवाजों की बात करता हूँ। एक उदाहरण में इस आरोप से मुक्त होने का थोडा बहुत प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। इस प्रयत्न को पूर्ण निष्फलता के स्थान पर सफलता मिलने के कारण, हिन्दू अंधविश्वास को प्रस्थापित करने वाले लोगों के बीभत्स तथा रक्तरंजित कृत्यों को लाभ हुआ था। यहाँ पर मैं और जोडना चाहूँगा कि, यदि हमें उनके निराशाजनक और तिरस्कारपूर्ण रिवाजों तथा मान्यताओं को प्रकाश में लाना है, तथा इस अंधकारपूर्ण गुफाओं को प्रकाश से भर देना है तो हमे उनकी भाषा की पुस्तकों तथा उनकी संस्थाओं के घनिष्ठ परिचय में आना पडेगा। हम अत्यन्त सरलता से स्वीकार कर सकते हैं कि भारत के लोग निराशाजनक बीभत्स प्रदर्शन देखने के आदी हो गये हैं। दिन दहाडे दिखाई देनेवाले ये दृश्य हमें अच्छे कार्य करने के लिये प्राप्त स्वाभाविक नम्रता तथा शक्तियों का नाश कर देते हैं। जिन महानुभाव ने मुझे यह बात कही है उनके नाम का यदि यहाँ पर उल्लेख किया जाए तो यह बात प्रमाणित हो जाएगी। उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा था कि आघातजनक रूप में बीभत्स नौटंकी अथवा गीत संगीत से भरपूर बालनाटक देखने के लिये दोनों ही जाति के हर आयु के लोग परिवार सहित

एक साथ बैठते हैं। लोर्ड कोर्नवालिस भारत आये तब एक सौदा हो जाने के पश्चात् उनको ऐसे ही बीभत्स कार्यक्रम का आमंत्रण प्राप्त हुआ था। यह कार्यक्रम देखकर वे अत्यन्त निराश हो गये थे। वास्तव में जो मूर्तिपूजा के रिवाज के विषय में गहन अभ्यास कर रहे हैं उनका ध्यान यहाँ पर मैं आकर्षित करना चाहता हूँ कि उनकी (भारतीयों की) अंधविश्वास से पूर्ण विधियों में स्वाभाविक रूप से ही बीभत्सता तथा क्रूरता जुडी हुई है। खास करके हिन्दुओं के अंधविश्वास के विषय में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वह क्रूर कम और विषयी अधिक है। एक हमारी स्वभावगत नम्रता को मिटा देती है, जबकि दूसरी हमारे मानवता के भाव को कुंठित कर देती है। इसी कारण सतीप्रथा के रिवाज के उदाहरण की तरह अन्य उदाहरणों में भी हम कभी कभी, ऐसी भयानक घटनाओं तथा दृश्यों के विषय में सुनते हैं जो अधिकांश यूरोपीयों को कंपित कर देती हैं। परन्तु भारतीय यह सब भावनाविहीन होकर मूल साक्षी बन कर देखते रहते हैं। यदि हमें मानवता के विचारों को एक तरफ कर देना है तो राजनैतिक दृष्टि से भी देखें, तो इन हानिकारक अंधविश्वास के शिकार बननवाले लोगों की विशाल संख्या के कारण यहाँ प्रचलित अति दुष्टता के परिणाम, हमारे लिये ध्यान देने लायक होते हैं। अत्यन्त उच्च प्रामाणिकता तथा सर्वाधिक योग्यतावाले (यहाँ पर जितने उपस्थित हैं उन सबसे अधिक) एक सद्गृहस्थ के समान अत्यन्त सटीक मन्तव्य इस विषय में और किसी का नहीं हो सकता। मैं ईसाइधर्म के प्रचारक डॉ. केरी की बात कर रहा हूँ। उनके मतानुसार ओरिस्सा के जगन्नाथपुरी के मन्दिर में केवल एक मूर्ति की पूजा तथा उत्सव में प्रति वर्ष १ लाख व्यक्तियों के जीवन की विभिन्न प्रकार से बली दी जाती थी।

कभी कभी अत्यन्त उचित रूप से ही लिखा गया है - विशेष रूप से मैं मानता हूँ कि अमेरिका के एक इतिहासकार ने ही लिखा है - कि किसी भी देश के लोगों के नैतिक चरित्र का अनुमान सामान्य रूप से उनकी आस्था के प्रतीकों तथा पूजाविधि से किया जा सकता है। इस सिद्धांत के आधार पर इन हिन्दुओं की नैतिक स्थिति विषयक अंदाज लगा सकते थे, उनके देवताओं के चरित्र की बारीकी से छान बीन करने से जान सकते थे। किसी ने विश्वासपूर्वक सच ही कहा है कि इन मूर्तिपूजकों की पौराणिक कथाओं में शायद ही दुष्कृत्य करनेवाले के कृत्य को अपराध माना जाता था। इसके विपरीत वह व्यक्ति अपने कृत्य को उचित ठहराने के लिये अपने देवों के कृत्यों का उदाहरण देता था। अत्यन्त स्पष्ट रूप से सही बात करें तो कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के असंख्य देवताओं के कार्यों की छानबीन करने पर प्रत्येक में संभवित

अपराध का वैविध्य दिखाई देगा। यहाँ पर भी पहले की गई बात से अधिक स्पष्टता तथा अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। उनके देवता विषयवासना, अन्याय, नीचता तथा क्रूरतापूर्ण केवल राक्षस ही हैं। सारांश यही है कि उनकी समग्र धार्मिक व्यवस्था अत्यन्त घृणास्पद है। मुझ ज्ञात है कि आप हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों में समस्त विश्व का सर्जनहार ईश्वर एक ही है ऐसी बातें देख सकते हैं। परन्तु सिसेरो के एक गद्यांश में कही गई बात के अनुसार इसी का विरुद्ध तर्क भी कर सकते हैं कि प्राचीन समय में इन सामान्य पुराणों को अधिकांश लोग अपना धर्म मानते ही नहीं थे। इसी कारण से यह कहना अर्थहीन तथा निराधार होगा कि लगभग ३३ करोड हिन्दू देवता, उनके विभिन्न लक्षण तथा साहस मिलाकर, अधिकांश भारतीयों के धार्मिक शास्त्र नहीं बनते। उनकीं नागरिक तथा धार्मिक व्यवस्था मूलभूत तथा अनिवार्य रूप से हमारे से भिन्न है। हमारा धर्म श्रेष्ठ, पवित्र तथा लाभदायी है जबकि उनका धर्म हलका, विषयी तथा क्रूर है। हमारे नागरिक सिद्धान्तों तथा स्थिति में सभी स्तर तथा वर्ग के लोगों के लिये समान अधिकार, समान रक्षण तथा समान कानून द्वारा शिक्षा इत्यादि मूल बातें हैं। यदि सारांश रूप में कहें तो समानता यह हमारे अंग्रेजी कानून की सबसे अधिक गौरवपूर्ण बात है। जबकि असमानता उनका (भारतीयों का) सर्व सामान्य तथा अनिवार्य लक्षण है। उच्चवर्ग में तानाशाही तथा निम्न वर्गो में अधःपतन यह सर्वसामान्य बात है। तानाशाही का ऐसी पद्धति के अनुसार इतना अधिक वर्चस्व है कि वे कंगाल शूद्रों को धिक्कार कर पीडाजनक परिस्थिति में पहुँचाने के पश्चात् (मृत्यु भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं ला सकती) उनके पतन को दृढ करने के प्रयासों से उनको अज्ञान तथा मानहानि की ओर धकेल देने के पश्चात् भी वह जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में तथा विभिन्न व्यवस्थाओं में यह असमानता जारी रख कर अपने शिकार बना कर ऐसे लोगों को सताते रहते हैं। यदि ये लोग (शूद्र) व्यापार आरम्भ करें तो उधार ली हुई राशि पर उन्हें ५ प्रतिशत व्याज चुकाना पडता है, जबकि ब्राह्मणों को केवल १ प्रतिशत व्याज देना होता है तथा अन्य दो जातियों को क्रमानुसार २ प्रतिशत तथा ३ प्रतिशत व्याज देना पडता है। अपने अपराधों के लिये, उच्च वर्ग के लोगों से कई अधिक कठिन दण्ड उन्हें दिया जाता है। फिर भी अधिकांश हिन्दू धाराशास्त्रियों के कानून के अल्पज्ञान के परिणाम स्वरूप, उनके अपराध कम ही सिद्ध होते थे। क्या इन समस्त पद्धतियों की जानकारी भारतीयों का पक्ष लेने वालों को ही नहीं तो फिर ब्रिटन की इस संसद में बिराजमान उनके प्रशंसकों को भी इसका अनुमान नहीं आया होगा ? परन्तु श्रीमान, मैं दृढता से यह मानता हूँ कि हमारे विरोधियों को हिन्दुओं की

धार्मिक तथा नैतिक व्यवस्थाओं की सच्ची जानकारी होती तो वे कदापि उनका पक्ष नहीं लेते। उनकी बढती हुई अधमता के विषय में प्रकाश डालनेवाले नये नये प्रकाशनों को पढने के पश्चात् भी, अनिच्छा से ही सही, परन्तु उनको यदि भारतीयों का वास्ताविक चित्र सम्पूर्ण रूप से समझ में आ जाए तो, उनकी आँखें खुलने पायेंगी और वे निस्सन्देह बडे आघात का अनुभव करेंगे कि क्या ऐसी व्यवस्था की वे लोग प्रशंसा कर रहे थे? तथा उसे संभालने के लिये तर्क कर रहे थे ? श्रीमान, मैं संसद का इस मामले में ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि भारतीयों के अंधविश्वास से परिपूर्ण रीतिरिवाज तथा नैतिक अधःपतन का जो चित्र आप सब के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उसमें कहीं भी मैंने डा. बुचानन के इन कथनों का आधार नहीं लिया है। क्योंकि मुझे विश्वास है कि मेरे सावधानी पूर्वक किये गये प्रयासों को, भले ही सम्पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई, परन्तु कम से कम मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई बातों से, भारतीयों के पक्ष में किये गये कथनों के ऊपर प्रश्न चिह्न रखने में सफलता अवश्य प्राप्त हुई है। इसी कारण यदि मेरी बात स्पष्ट करने के लिये, जिनके विषय में पूर्वाग्रह रखा जा रहा है ऐसे डा. बुचानन के उदाहरण के स्थान पर अन्य साक्षियों के अनुभवों का मैं अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार उपयोग कर सकता था। परन्तु श्रीमान, मेरे प्रति रखे गये पूर्वाग्रहों का न्याय, सत्य तथा हमारी मित्रता के लिये, यदि मैं विरोध नहीं करता तथा उसे निराधार नहीं ठहराता तो यह अत्यन्त लज्जा जनक बात मानी जाती। मैं आप सबसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे कथन की ओर विशेष ध्यान दें कि डॉ. बुचानन के कथनों को द्वेषयुक्त दृष्टि से देखा गया है। मैं एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जहाँ उनके अभिप्रायों को भूलों से भरा हुआ सिद्ध किया गया है। उनका चरित्र मेरी छवि से भी कई गुना अधिक उँचा है। इस कारण से यह संसद के समक्ष प्रमाणित होना ही चाहिये। मेरे से भी उच्च सत्ताधीश व्यक्ति के कथनों द्वारा प्रेरित लोर्ड वेलेस्ली ने सर्वाजनकि रूप से डॉ. बुचानन की नियुक्ति की थी। उनकी योग्यताओं के विषय में लोगों को बताया गया था। उन्होंने डॉ. बुचानन को केवल कोलकता के कालेज के मुख्य अधिकारी के पद के लिये ही पसन्द नहीं किया था, परन्तु इस महत्त्वपूर्ण पद पर उनकी नियुक्ति करते समय अन्य निदेशकों को उनके विषय में जानकारी देते हुए उन्होंने कहा था, ''इंग्लैंड के अत्यन्त प्रख्यात तथा विशेष करके लंडन के पादरी, डॉ. पोर्ट्स तथा केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के क्वीन्स कोलेज के अध्यापक डॉ. मिल्नर के अत्यन्त माननीय ऐसे डॉ. बुचानन की योग्यता, ज्ञान, स्वभाव तथा उनके सिद्धांतो से मैं भी खूब ऊँची अपेक्षायें रखता हूं।''

मैं यह नहीं कहूँगा कि डॉ. बुचानन मानव मात्र की भावगत कमजोरियों से परे हैं। उन्होंने कई घटनाओं में अन्य विद्वानों की सर्वोपरिता के उपर जाकर जो प्रकाशित किया है, उनमें कहीं पर उनकी जानकारी बिलकुल क्षतिरहित, सत्य तथा असावधानी रहित है ऐसा मेरा दावा नहीं है। परन्तु उनकी क्षतियों तथा असावधता को निश्चित करने का कार्य मैं उनके प्रति पूर्वाग्रह रखनेवालों पर छोडता हूँ। वे उनके कथनों की अनिश्चितता के विषय में उँची उँची आवाजों में शिकायत करें तथा सिद्ध करें कि वे कभी भी निरपेक्ष, उत्साहपूर्ण तथा सत्य की खोज करनेवाले थे ही नहीं। अथवा तो वे डॉ. बुचानन की शोध पद्धति को गलत ठहरा कर एक ऐसी नई पद्धति सूचित करें जो डॉ. बुचानन के कथनों तथा उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षो की सत्यता या असत्यता की स्पष्ट रूप से खोज कर सके। जब उनके विरोधी उनके कथनों की सत्यता, सावधता की बातें करने लगे तब उन्होंने अपने निर्णयों को इंग्लैड वापस आने तक स्थगित न रखते हुए, भारत से ही अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति को प्रकाशित किया। अपनी पुस्तक के प्रति सबका ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से उन्होंने यह पुस्तक सरकार को भेंट की। उनके कोलकता छोडने के तीन वर्ष पूर्व यह पुस्तक बडी मात्रा में उन्हीं भारतीय लोगों के बीच में प्रसारित हो चुकी थी जिनके विषय में डॉ. बुचानन की पुस्तक में विवरण थे।

मेरी तरह ही जो लोग डॉ. बुचानन के निजी जीवन, उनकी निष्कलंक प्रामाणिकता तथा उनके चरित्र के साक्षी हैं, उनको यह प्रशंसा कुछ अधिक ही प्रतीत होगी। परन्तु इस प्रशंसा के द्वारा, भारत के लिये इतनी अधिक सेवा करनेवालों का ऋण स्वीकार करना यही मेरा आशय है। ये ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हे भारत के लोग याद करेंगे। उनके कभी न चुकाये जा सकनेवाले ऋण को वे निस्सन्देह स्वीकार करेगें तथा उनके उत्साह और अनन्य कठोर परिश्रम को याद करेंगे। रीतिरिवाजों के खंडन के कारण उनको प्राप्त हुआ तिरस्कार तथा बदनामी को स्वीकार करके भी जिस प्रकार उन्होंने भारत के लोगों की भलाई के लिये अपनी निःस्वार्थ सेवायें प्रदान की हैं, उनका शब्दों में वर्णन करना संभव ही नहीं है।

अब श्रीमान, मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि अब तक जिन लोगों ने मुझे सुना है उन सबके मन में भारत के दुखी तथा दरिद्र लोगों की स्थिति के वर्णन से उनके लिये अत्यन्त करुणा जागृत हुई होगी। उन्होंने हृदयपूर्वक संकल्प भी किया होगा कि ईसाइधर्म के आदर्शो तथा संस्थाओं की सहायता तथा सहयोग से इस अज्ञानग्रस्त प्रदेश में प्रकाश व्याप्त होगा। यह करते समय ध्यान में रखना पडेगा कि

भारत में राजकीय उद्देशों को किसी प्रकार की हानि नहीं होनी चाहिये। चाहे जितनी भी सावधानी से तथा बुद्धिमानीपूर्वक कार्य करने पर भी यदि कोई अनिवार्य तात्कालिक राजकीय आवश्यकता के कारण से हमें यह कार्य बन्द कर देना पडता है तो भी हमें इतना तो प्रस्थापित कर ही देना होगा कि भारत में ईसाइधर्म का प्रकाश फैलाने की अत्यन्त आवश्यकता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि उनकी कमजोरियों के वास्तविक प्रदर्शन से ही हम इस आवश्यकता का विश्वास दिला सकते हैं। मैं अनुमान करता हूँ कि विश्व में भारत जैसी खराब परिस्थितिवाला अन्य कोई देश नहीं होगा। उसके उपचार के लिये की गई योजनाओं में ईसाइधर्म का प्रसार, प्रचार सब से अधिक प्रबल योजना सिद्ध होगी। उनके नैतिक स्तर को सुधारने के लिये तथा आध्यात्मिक और सांसारिक कल्याण के लिये यह अति आवश्यक है। मुझे आनंद है, तथा मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि भारत के लोगों के साथ संवाद स्थापित करने के प्रयासों में यदि हम इन मापदंडों को ध्यान में रख कर योजनाबद्ध पद्धति तथा सावधानी से आगे बढेंगे तो ईसाइ धर्म का प्रसार तथा उस प्रजा में सुधार लाने की योजना बिना खतरे की बन जाएगी। इतना ही नहीं तो भारत में हमारे राजकीय उद्देशों को सिद्ध करने के लिये इससे श्रेष्ठ अन्य कोई मार्ग हो ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से इस देश में हम अपनी सरकार की नींव मजबूत नहीं बना सकते। इस समस्त मामले में तथ्य तथा अनुभव के आधार पर हमारी बात दृढ तथा अचल रूप से खडी है।

हमारे विरोधी अपने धर्म के विषय में अत्यन्त ही आक्रमक हैं। इसी कारण से यदि हम अपने कार्य अत्यन्त सीमित रख कर सावधानी पूर्वक, उनकी धर्मव्यवस्था में निहित भूलों को बताकर, उनका विश्वास प्राप्त करेगें तथा धीरे धीरे उनको अपने ईसाई धर्म की ओर मोडेंगे तो उनकी भावनाएँ खूब भडक जाएँगी तथा परिणाम स्वरूप एक जोरदार विस्फोट होगा। अगर यह हकीकत सत्य है तो लगभग एक शताब्दी से भारत में कार्यरत ईसाई धर्म प्रचारकों के विरुद्ध प्रदर्शन या दंगे कभी तो हुए होते। परन्तु ऐसा हमने कभी भी सुना नहीं है। जैसा कि मैने पूर्व में कहा है वैसे ही , ईसाई धर्म के प्रचारक, हमारे विरोधियों की इस बात को समर्थन प्रदान करते हैं कि वे स्वयं ही सार्वत्रिक द्वेष तथा शत्रुता के भोग बने हुए हैं। नहीं तो वे इस देश के लोगों में कैसे अत्यन्त प्रिय तथा प्रख्यात बने हैं तथा खूब योग्य सिद्ध हुए हैं। बहुत दूर का नहीं, परन्तु सन् १८०३ के वार्षिक अहेवाल से प्राप्त हुई जानकारी के अनुसार ईसाई धर्म के ज्ञान का प्रचार करनेवाली एक संस्था के धर्म प्रचारक अत्यन्त सफल हुए थे।

भारत देश से कहीं से भी नाराजगी या विरोध व्यक्त हुआ हो एसा किसीने सुना नहीं है। सारांश यह है कि इस संस्था द्वारा भारत में संवादिता बढाने के लिये जो पद्धति अपनाई गई थी उसकी जानकारी इस अहवाल से हमें प्राप्त होती है।

एक ही उदाहरण प्राप्त होता है जहाँ हमारे विरोधियों को ईसाई धर्मप्रचारकों के विरुद्ध शिकायत करने के लिये एक विषय मिलता है अथवा धर्मपरिवर्तन की प्रक्रिया के विरुद्ध बोलने के लिये कोई कारण प्राप्त होता है। (क्योंकि अन्त में समस्त दोषों को धर्मप्रचारकों के उपर ही डाल दिया जाता है।) परन्तु यह व्यवहार अगर सामूहिक रूप से किया जाता है तो हमारे प्रयासों का निश्चित परिणाम प्राप्त होगा ही ऐसा विश्वास प्राप्त होता है। हमारे विरोधियों की बात को जो प्रभावहीन बना देती है वह बात कुछ इस प्रकार है - धर्म परिवर्तन के द्वारा ईसाई बने हुए एक ईसाई भारतीय ने हमारे ईसाई धर्मप्रचारकों की जानकारी के बिना मुहम्मद की जीवनी का पर्शियन भाषा में अनुवाद किया था। इसमें अपशब्दों से भरपूर अनेक आपत्तिजनक कंडिकायें थीं। इस पुस्तक की २००० प्रतियां छप चुकी थीं। इसमें से कोलकता की घनी आबादीवाले एक जिले में लगभग ३०० प्रतियां बिक जाने के कारण लोग उससे खूब परिचित हो गये थे। परिणाम स्वरूप, उसमें लिखी गई बातें लोगों में शीघ्रतापूर्वक फैलने के कारण प्रचंड असंतोष उठ सकता था। फिर भी परिणाम क्या हुआ ? क्या इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप कोई तात्कालिक विद्रोह या विरोध हुआ ? इन ३०० प्रतियों में से एक प्रति को पढानेवाले की ओर से कुछ विरोध करने का प्रयास हुआ था। परन्तु इस प्रयास का भी क्या हुआ ? एक व्यापारी के पुत्र ने कोलकत्ता की एक कालेज के अध्यापक का ध्यान इस विषय की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। मुस्लिम धर्म की आस्था तथा संत के सम्मान के रक्षण के लिये तर्क देने की प्रार्थना भी की थी। जब जब हम उनके धर्म को गलत सिद्ध करते हैं अथवा अपने धर्म को प्रस्थापित करने के लिये प्रयास करते हैं तब छिटपुट विरोध से अधिक गंभीर विरोध की ज्वालाएँ उठने की संभावना क्या किसी को भी दिखाई दीं ? यही वह मामला है जहाँ पर मुझे उनकी बुद्धिमत्ता गलत दिखती है। (विद्रोह) आंदोलन करने की बात तो दूर की है इस मामले के प्रति शायद उनका ध्यान भी नहीं गया। केवल एक मामले को गंभीरता से लिया गया। उस समय बुद्धि और तर्क का शान्त रवैया अपनाया गया जिससे सार्वजनिक शान्ति का भंग नहीं हुआ। हमारे राजकीय उद्देशों के लिये कभी कोई खतरा पैदा नहीं हुआ। इस घटना से सही निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि भारत के लोग अपने धर्म से सम्बन्धित विषयों में भी इतने अधिक शान्त, धैर्यवान

तथा सहिष्णु हैं कि हमारे द्वारा जल्दबाजी की जाए या विचारहीन कदम उठाया जाए तब भी वे उत्तेजित नहीं होते। परन्तु एक टिप्पणी के बिना मैं अपनी बात समाप्त नहीं करूँगा। मेरे मतानुसार इस प्रकार की घटना के भविष्य में पुनरावर्तन की सम्भावना नहीं है, क्योंकि हमारे ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपनी इच्छा से निर्णय किया है तथा स्वीकार किया है कि भविष्य में होनेवाले किसी भी पुस्तक के मुद्रण या प्रकाशन के संबंध में, सर्व प्रथम तो उस लिखित सामग्री का परीक्षण होगा तथा उसके पश्चात् सरकारी अधिकारी से परवाना मिलने के पश्चात् ही वह पुस्तक लोगों तक पहुँच सकेगी। इस विषय को एक और मामले का विवरण दिये बिना मैं पूरा करना नहीं चाहता। वह यह कि इस पूरी घटना में ईसाई धर्म प्रचारकों का व्यवहार श्रेष्ठतम रहा है और उनके वरिष्ठ अधिकारियों ने भी उनकी सराहना की है। वास्तव में यदि उन्होंने यह घटना घटित होने के समय ऐसा व्यवहार नहीं किया होता तो वह उनके निश्चित प्रयोजन से विरुद्ध का व्यवहार होता, क्योंकि ईसाईधर्म के प्रचार कार्य में, व्यवसायिकता से जुडने से पहले, उनको अपने व्यवहार के निश्चित परिणामों तथा नियमों को समझ कर उसके अनुसार ही व्यवहार करना होता है। उनको शुभ भावना से, बुद्धिमत्ता पूर्वक तथा नरमी बरतकर ही व्यवहार करना होता है जिससे वे धार्मिक कट्टरता के आरोप से बंच सकें। इनमें कुछ बातें इस प्रकार हैं : वे कहते हैं कि 'हिन्दुओं के साथ जब हम वार्तालाप करने के लिये जाते हैं तब हमें, ईसाईधर्म के प्रति उनका पूर्वाग्रह दृढ बनानेवाली बातों से दूर ही रहना चाहिये ! इस कार्य में नुकसान पहुँचानेवाली हमारी अंग्रेजी शैली को छोड देना चाहिए। उनके देवताओं के कुकर्मों का कटु शब्दों में वर्णन कर उनके पूर्वाग्रहों को भडकाना उचित नहीं होगा। हमको उनके देवी देवताओं की मूर्तियों की तोडफोड नहीं करनी है या उनके श्रद्धा विश्वास में भी किसी प्रकार से दखल नहीं देनी है।'

जिनके लिये तिरस्कारपूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया जाता है ऐसे एनाबेप्टीस्ट (एक ईसाई संप्रदाय) धर्म प्रचारक तिरस्कार के नहीं अपितु मान तथा प्रशंसा के अधिकारी हैं। उनमें से एक डॉ. केरी, समाज के अत्यन्त पिछडे हुए इलाके से आने के बाबजूद भी, अत्यन्त दयनीय स्थिति से आने के बाद भी, तथा ऐसे पिछडे क्षेत्र की सभी मर्यादाएँ होते हुए भी, अपनी प्रतिभा के अनुरूप उन्होंने एक परोपकारी कार्य का आयोजन किया तथा उसका जीवनभर अनुसरण किया। उन्होंने भारत में ईसाईधर्म का प्रकाश फैलाने के लिये एक संस्था की स्थापना की थी। उनका प्रथम कार्य स्वयं को इस सच्ची सेवा के कार्य में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिये योग्य बनाने का था।

उन्होंने सीखी हुई समस्त भाषाओं का परिश्रमपूर्वक अभ्यास किया। इन भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने पूर्व की अनेक, विशेष करके वहाँ भाषाओं की जननी मानी जानेवाली मुख्य भाषा संस्कृत सहित अन्य भाषाओं में निपुणता प्राप्त की। उनका संस्कृत भाषा का प्रभुत्व तो सर विलियम जोन्स या अन्य कोई यूरोपीय विद्वान से भी अधिक था। इसका निर्विवाद स्वीकार किया जा चुका है। इनमें से कुछ भाषाओं में तो उन्होंने व्याकरण भी प्रकाशित किया है। एक दो भाषाओं के शब्दकोश की भी रचना की है। अभी भी अनेक साहित्यिक कार्य करने का उनका आयोजन है। उनमें से एक आयोजन प्रत्येक पूर्वाग्रह से मुक्त, साहित्य रसिकों के मन में सम्मान उत्पन्न करनेवाला तथा उन्हें प्रशंसा के लिये प्रेरित करनेवाला है। श्रीमान, अभी वह एक साहित्यकार के अथक परिश्रम के समान ही परिश्रम एक धर्मप्रचारक के रूप में कर रहे हैं। वे साहित्य के कार्यकलापों से अधिक सेवा एक ईसाई धर्म प्रचारक के रूप में कर रहे हैं। उनकी यह सेवा लार्ड वेलेस्ली की जानकारी में है। इसी कारण से उनको कोलकता की एक कॉलेज में संस्कृत तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया है। ऐसे ही एक सेवाशील एनाबेप्टीस्ट धर्मप्रचारक श्री मार्शमेन हैं, जिन्होंने चीनी भाषा के विकास के लिये एक पाठशाला स्थापित की है। संस्कृत भाषा में निपुण डॉ. केरी की तरह मार्शमेन चीनी भाषा में निपुण हैं।

कोलकता के कॉलेज में वार्षिक परीक्षा के दौरान एक से अधिक प्रसंगों में गवर्नर ने डॉ. केरी तथा श्री मार्शमेन की खूब प्रशंसा की है तथा उनकी साहित्य यात्रा के शुभ परिणाम होंगे ऐसा संकेत भी दिया है।

उनके लोग अपनी नैतिक तथा साहित्यिक श्रेष्ठताओं में इतने मोहांध हो जाते हैं कि वे अपने आदर्शों तथा आदतों का भी मूल्य गिनने लग जाते हैं। यह तो एक निम्न प्रकार का दुर्गुण है। परन्तु इन दोनों महानुभावों के साथ अन्य एक श्री वार्ड ने भी वर्षभर में १००० से १५०० पाउन्ड स्टर्लिंग की कमाई अपने ज्ञान के विविध प्रयोगों के माध्यम से की थी और उस कमाई को धर्म प्रचार के कार्य में खर्च होने वाली निधि में दे दिया था और इस प्रकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आर्थिक योगदान भी वे देते थे। यह कोई नई खोज या उच्च प्रकार के कार्य से जरा भी निम्न स्तर का काम नहीं है। श्रीमान, अच्छे तथा महान व्यक्तियों के ये प्रयत्न हैं, ये गुण हैं तथा यें सफलतायें हैं। इसी लिये उनके नाम का यहाँ उल्लेख करने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं है।

इन माननीय सज्जन ने संसद का अत्याधिक समय लेने के लिये क्षमाप्रार्थना करते हुए और संसद के निर्णय का स्वागत करेंगे यह प्रतिपादित करते हुए अपने भाषण का समापन किया।

संदर्भ

१. हेन्सार्ड, २२ जून १८१३, स्तंभ ८३९-८७२ (मूल संस्करण में ज. हेटचार्ड के लिये मुद्रित, पिकाडीली)

२. सर जे. माल्कम के सिक्ख विषयक विवरण में सूचित किया गया है कि दंगों से सम्बन्धित अनेक मामलों को देखने के बाद अगर दूरदर्शितापूर्ण कदम नहीं उठाये गये तो जाति आधारित व्यवस्था के दबाव के कारण भारत के नीचले क्रम के लोगों में क्रोध की भयंकर ज्वालाएँ उठने लगेंगी।

३. डॉ. केरी द्वारा मद्रास सरकार को प्रस्तुत अहवाल, ३ नवम्बर १८०६

५. मैं श्री ग्रान्ट के भारत की नैतिक स्थिति विषयक वृत्तांत का संदर्भ लेता हूँ, उसमें बताये गये कारणों तथा सुझावों का आधार लेता हूँ। उनमें सुधार लाने के लिये लगभग सन् १७८२ में भारत से वापस आने पर तुरन्त ही उन्होंने यह वृत्तान्त लिखा था तथा सन् १७८७ में कोर्ट ऑव् डायरेक्टर्स के समक्ष प्रस्तुत किया था। यह वृत्तान्त आकार में छोटा होने पर भी हिन्दुओं के धर्म तथा कानून, सामाजिक तथा नैतिक स्थिति तथा चरित्र के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी को समाविष्ट करता है। आशा की जाती है कि उनकी विनम्रता इस अमूल्य अभिलेख के प्रकाश द्वारा उसे विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने से नहीं रोक सकेगी। इस प्रकार उसे एक विशाल वाचक वर्ग भी प्राप्त होगा।

६. ल्युक स्क्रेटन, 'रिफ्लैक्शन ऑव् द गर्वमेन्टस ऑव् हिन्दुस्तान'

७. मनुष्य के आत्यन्तिक दारिद्र्य का इतना अपमानजनक चित्र प्रस्तुत करने के पश्चात् श्री ओर्म्स कहते हैं। 'मेरे स्वयं के अतीत से प्रेरणा लेकर मैंने इसाईधर्म के पक्ष में तथा स्वतंत्रता के लिये कितने उच्च, सही तथा उत्तम प्रतिभाव दिये!' ओर्म्स इन्डिया, खण्ड ८, पृ. ४३०

८. 'वॉल्टर्स कन्सीडरेशन', खण्ड ३

९. वेरेल्स्ट्स व्यू ऑव् द इंग्लीश गर्वनमेन्ट इन बंगाल

१०. श्री हेस्टिंग्स के विरुद्ध की गई संसदीय कार्यवाही

११. पूर्व भारत के मामलों का पाचँवा अहवाल

१२. श्री डोडस्वेल का बंगाल पुलिस विषयक अहवाल, २२ सितम्बर १८०९

१३. यह अत्यन्त ही अन्यायपूर्ण माना जाता यदि मैं इस बात को इसमें नहीं जोडता। अपने

प्रस्तुतीकरण में, अपने धर्म प्रचारक श्री मार्शमेन ने कुछ वर्ष पूर्व देखे एक भयानक दृश्य का विवरण आपके समक्ष प्रस्तुत नहीं करता तो मैं संसद का अपराध करता। जिसके एक एक शब्द में सचाई है ऐसे अत्यंत ईमानदार श्री मार्शमेन के शब्दों को ही मैं यहाँ प्रस्तुत करूँगा। ''एक व्यक्ति ने मुझे तथा हमारे अन्य धर्मप्रचारकों को आकर जानकारी दी कि हमारे निवास के समीप ही एक महिला को उसके पति के मृतदेह के साथ अभी जीवित जला दिया है। वह अत्यन्त ही भयानक दृश्य था। सबसे अधिक लज्जाजनक बात तो यह सब देखने वाले लोगों की लापरवाही तथा हलकापन था। उनके जैसा निर्दय व्यवहार मैंने कहीं भी नहीं देखा है। इंग्लैंड में किसी बिल्ली या कुत्ते को मौज मस्ती में क्रूरता पूर्वक मार डालने के लिये एकत्रित उद्दण्ड और नीतिभ्रष्ट नवयुवकों जैसे ही वे प्रतीत होते थे। एक बीस फुट लँबे बाँस का एक छोर जमीन में गाडे गये खंभे के साथ बांधा हुआ था तथा चिता से कुछ ही दूरी पर खडे लोगों ने उसको आग के उपर नीचा करके पकड रखा था। अपनी आंखों के सामने एक असहाय स्त्री जब जल रही थी तब वहाँ धांदली, हलकापन तथा क्रूर हास्य की फुहारें उड रही थीं। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे कि शापित अंधविश्वास में मानवता की ज्योति एक एक करके बुझ रही थी। इस क्रूरता को और अधिक क्रूर बनानेवाली बात यह थी कि अग्नि मंद प्रज्वलित की गई थी। हम अपने रात्रि के भोजन के लिये जितने ईंधन का प्रयोग करते हैं उतना ईंधन भी आग में नहीं डाला गया था। यह आग जीवित या मृत किसी के उपयोग की नहीं थी। मैंने देखा कि जब उस स्त्री का शरीर आग में जल रहा था तब उसके पांव तडफडा रहे थे। थोडी देर के बाद उन्होंने एक दस बारह फुट लम्बा बाँस लिया तथा उसकी सहायता से उसे धक्के मारने लगे तथा आधी जली हुई लाश को पीटने लगे, जिस प्रकार हम गीली लकडियों से ठंड से बचने के लिये अग्नि प्रज्वलित करते हैं तथा उसमें आधे जले हुये लकडी के टुकडों को पकड कर बीच में डालते हैं उसी तरह वे फिर से स्त्री के घुटनों के जोड को तोडने के लिये जोर जोर से बाँससे मारते थे। किसी भी हालत में वे स्त्री के पाँव को छू नहीं सकते थे। काफी प्रयास करने के बाद वे लटकते हुए पाँवो को आग में डालने में सफल हुए। पाँव की चमडी तथा स्नायु जल गये, हड्डियाँ दिखाई देने लगीं तथा पाँव की हड्डी और टखने दिखाई देते थे। यह दृश्य मुझे अत्यन्त भयभीत कर गया। विशेष रूप से जब मुझे याद आया कि अंधविश्वास का शिकार वनी यह महिला अभी कुछ क्षण पूर्व मेरी आंखों के सामने जीवित थी। मैं काँप गया ! जंगली भेडियों की तरह मनुष्य के शरीर को फाड कर उसके एक एक भाग को अलग अलग कर देते हों, तो वह देखना कितना आघातजनक है, परन्तु इससे भी अधिक आघातजनक बात यह है कि जव व्यक्ति के अपने ही सगे सम्बन्धी तथा पडोसी ऐसा व्यवहार करते हों, जिनके साथ वे अभी एक घंटा पूर्व बातचीत कर रही थी। और फिर जिस दुष्टता से यह कार्य किया गया उसे सह पाना मेरे लिये असंभव था।

आप मानते होंगे कि जिस स्त्री को सती किया गया था वह कोई ब्राह्मण या अन्य उच्च वर्ग की होगी। वह श्रीरामपुर के एक नाई की पत्नी थी जो एक पुत्र तथा ग्यारह वर्ष की एक पुत्री को छोड कर सुबह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार दुष्ट अंधविश्वास लोगों के डर को वढाता है तथा एक ही दिन में इन वालकों के माता तथा पिता दोनों को छीन लेता है। यह कोई असामान्य घटना नहीं है। इससे भी अधिक अनाथ बालकों के साथ भी ऐसा कभी कभी

घटित होता रहता है। कई बार तो यदि बालकों को विरासत में अमाप संपत्ति प्राप्त होने वाली हो तो उनकी माता को उनके मृत पति की चिता पर चढा कर, बालकों को अनाथ बना दिया जाता है और बाद में संपत्ति समेत उन बालकों को माता को चिता पर चढाने वाले लोगों की दया पर जीना पडता है।

१४. 'उदाहरण स्वरूप मैं एक घटना प्रस्तुत करता हूँ। यह घटना एक विश्वासपात्र साक्षी द्वारा कही गई। लगभग २००० पुरुष, स्त्री तथा बालक एकत्र हुए होगें। मैंने देखा कि नाव में स्थापित मूर्ति के सामने एक निर्वस्त्र व्यक्ति बीभत्स अंगभंगि के साथ नाच रहा था। जब नाव आगे चली तब किनारे पर से एक बडा समूह इस व्यक्ति की ओर देख रहा था। यह घृणाजनक कार्य किसी प्रकार की संवेदना उत्पन्न करने के स्थान पर हास्यास्पद लग रहा था। दूसरी बहुत सारी मूर्तियों के सामने बहुत सारे पुरुष स्त्रीवेश में विचित्र हावभाव करके नाच रहे थे। मैं एक विचार को मन में आने से रोक नहीं सका कि इंग्लैंड के सबसे नीच लोगों के समूह ने भी क्रोधवश अत्यन्त तिरस्कार पूर्वक इन निर्लज्ज पशुओं पर हमला करके उनको टुकडे टुकडे कर दिया होता।' वॉर्डझ अकाऊंट ऑव् रिलिजियन ऑव् हिन्दूझ, पृ. ३०६.

१५. हम देख सकते हैं कि विवादास्पद पुस्तक में प्रकाशित समग्र घटना के दौरान ईसाई धर्म प्रचारक संस्था के धर्म प्रचारकों का व्यवहार मृदु, संतोषजनक तथा सम्मानपूर्ण रहा था। इसकी और मैंने आप सबका ध्यान आकर्षित किया था तथा जिन मर्यादाओं को उन्होंने अपनाया था, उनको भी आप स्वीकार करेंगे ही (बंगाल के प्रमुख का डायरेक्टरों की कचहरी को अगस्त १८०२ को लिखा गया पत्र)

१६. *बेप्टीस्ट मिशनरी सोसायटी का अहवाल*

१७. केम्ब्रिज के डॉ. मार्श द्वारा किये गये उपर्युक्त परीक्षण के विषय में कहूंगा। उनकी साहित्यिक सेवाओं का परिचय देने के पश्चात् वे आगे कहते हैं, 'श्रीरामपुर के ईसाई धर्मप्रचारक असाधरण शक्ति रखते हैं जिन्होंने सन् १८०० से आज तक अर्थात ग्यारह वर्ष तक अत्यन्त परिश्रम किया है। उन्होंने पूर्व के देशों की भाषाओं में, अपनी संस्था की सहायता से बाईबल की बातों का अनुवाद करके अपने धर्म का प्रचार प्रसार करने में बहुत योगदान दिया है। बाईबल सोसायटी का आरम्भ होने से पूर्व उन्होंने पूर्व की सभी भाषाओं में ईसाईधर्म के लेखों का अनुवाद करने की एक बडी योजना बनाई थी। इस अद्भुत कार्य को व्यावहारिक रूप प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बननेवाले ये महानुभाव अत्यन्त महान हैं। ये वही लोग हैं जो अपनी योजनाओं को नम्रता से आरम्भ करके सफलता पूर्वक पूरा करने की योग्यता रखते हैं तथा इस प्रकार धर्मप्रचार के कार्य को सिद्ध करते हैं। जिस भाषा पर उन्होंने प्रभुत्व प्राप्त किया है उस भाषा में भविष्य में अनुवादकों को तैयार करने के लिये श्रीरामपुर के विद्यालय में आयोजन किया गया है। इन लोगों को पूर्व के सभी विद्वानों का विशाल संपर्क है तथा वे प्रत्येक लेख के अनुवाद को अच्छी तरह लिख कर ईसाईधर्म के मुद्रणालय में नियमित रूप से भेजते हैं तथा बेप्टीस्ट सोसायटी (ईसाईधर्म के एक संप्रदाय की संस्था) द्वारा दिये गये धार्मिक लेखों के विशाल समूह में अपने नम्र योगदान से वृद्धि करते हैं। फिर धर्म प्रचार के इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को सफल बनाने के लिये इन श्रेष्ठ प्रचारकों के पास अनेक मार्ग तथा माध्यम भी हैं। इसी कारण से ये वही लोग हैं जो 'अंग्रेज प्रजा' का धन्यवाद प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

३. टोमस बेबिंग्टन मेकोले और भारत

१. २ फरवरी १८३५ का भाषण

अब मैं जो तर्क प्रस्तुत करना चाहता हूँ वह इस गृह की कार्यवाही के स्वरूप को प्रभावित करनेवाला है। प्राच्य शिक्षा पद्धति के प्रशंसकों ने जो तर्क प्रस्तुत किया है उसे यदि हम मान्य करते हैं तो वह निश्चित रूप से किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरुद्ध ही होगा। इन लोगों को प्रतीत होता है कि सामान्य जनता की श्रद्धा वर्तमान पद्धति में ही है, अतः अभी अरबी तथा संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिये हमारा जो धन खर्च होता है उसका किसी और विषय के लिये उपयोग करने से लोगों के साथ द्रोह होगा। वे किस विचार से इस निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे यह समझ में नहीं आता। जिस सामग्री को प्रोत्साहित करने के लिये अभी सार्वजनिक धन का उपयोग हो रहा है वह उससे अधिक उपयोगी विषय के पीछे खर्च करना चाहिये वही है। दोनों का स्रोत एक ही है। परन्तु हमने जहाँ पर आरोग्यधाम की कल्पना की थी वहाँ पर हमें रोगीगृह दिखाई देते हैं। रोगीगृह हमारी अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं कर सकते हैं। तब भी हम क्या उन्हें चलाये रखेंगे ? हम पुल का निर्माण कर सकते हैं, परन्तु आगे चल कर हमें यदि विश्वास हो जाए कि यह निर्माण किसी भी उपयोग का नहीं है और हम उस निर्माण को रोक दें तो क्या यह प्रजा के साथ द्रोह माना जायेगा ? जायदाद का अधिकार पवित्र है इसमें दो राय नहीं है। परन्तु जिसका यह अधिकार है ही नहीं उसे यह अधिकार दिया जाए तो वह अधिकार का दुरूपयोग ही माना जायेगा। अभी बडे पैमाने पर यही हो रहा है। जिसका अधिकार नहीं है उसे अधिकार देने की बात करनेवाले उस अधिकार की पवित्रता को तो भंग कर ही रहे हैं परन्तु साथ ही लोगों में अप्रिय तथा नहीं टिकनेवाला भी बना रहे हैं। सरकार ने यदि किसी व्यक्ति को औपचारिक रूप से विश्वास दिलाया हो अथवा यदि सरकार ने किसी व्यक्ति के मन में यह आशा जाग्रत की हो कि वह संस्कृत अथवा अरबी भाषा का शिक्षक बनेगा तो वह अर्थार्जन कर सकेगा, तो मैं उस व्यक्ति की विशिष्ट रुचि का सम्मान करूंगा, मैं

लोगों की श्रद्धा के प्रश्न को अवरोध रूप नहीं बनाऊंगा और उस व्यक्ति के प्रति उदारता बरतने का प्रयास करूंगा। परन्तु निरूपयोगी हो गये भाषा तथा विज्ञान सिखाने के लिये सरकार वचन बद्ध है यह नहीं कहूंगा। सरकार की घोषणा में ऐसा एक भी शब्द नहीं है जो यह सिद्ध करता है कि सरकार ने इस विषय में कोई वचन दिया है अथवा इस धन के उपयोग में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता ऐसा निश्चित किया है। यदि ऐसा कोई वचन दिया है तो मैं अपने पुरोगामियों के उस अधिकार के विषय में ही प्रश्न उठाऊँगा जो हमें भी उनके वचन से बाँधे रखने की इच्छा रखता है। मान लिजिये कि सरकार ने विगत शताब्दी में अत्यन्त गंभीरता से कार्यवाही की हो कि प्रत्येक प्रजाजन को चेचक का टीका लगाना ही होगा, तो क्या जेनर के टीके की खोज के पश्चात् आज भी वही व्यवस्था जारी ही रहनी चाहिये ? ऐसे वचन जिसका पालन करने का दायित्व किसी का नहीं होता, या कोई जिससे मुक्ति नहीं दिलाता; ऐसे अधिकार, जो किसी के भी नहीं होते; यह संपत्ति, जिसका कोई मालिक नहीं होता; यह लूट जो किसी को भी गरीब नहीं बनाती; इन सब का विचार तो मेरे से बडे लोगों को करना चाहिये। मैं इस तर्क को केवल शाब्दिक ही मानता हूँ। नहीं करने योग्य हर काम के बचाव में और कुछ नहीं मिलता तब यही कहा जाता है - इंग्लैंड में भी तथा भारत में भी।

मैं यह एक लाख रूपया काउन्सिल के गवर्नर जनरल को भारत में सबसे उचित पद्धति से शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये उपयोग करने के लिये सौंप रहा हूँ। माननीय गर्वनर जनरल यह निर्देश देने के अधिकारी हैं कि यह धन अब अरबी तथा संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन देने के लिये उपयोग में नहीं लिया जायेगा। जिस प्रकार माननीय गर्वनर ने मैसूर में शेर का शिकार करनेवाले को इनाम देने पर अथवा मन्दिरों को दान देने पर प्रतिबन्ध लगाया है उसी प्रकार माननीय श्री गर्वनर अरबी तथा संस्कृत भाषा के विषय में भी कर सकते हैं।

अब हम मुख्य विषय पर आते हैं। इस देश के बौद्धिक विकास के लिये सरकार के निर्देशानुसार खर्च करने के लिये हमारे पास पर्याप्त धन है। सीधा सादा प्रश्न यह है कि इस पूँजी का सर्वोत्तम उपयोग क्या है ?

सभी पक्ष एक बात में एकमत दिखाई देते हैं। वह यह है कि इस प्रदेश की सामान्य रूप से प्रयुक्त बोलियाँ (भाषायें-सं) साहित्यिक अथवा वैज्ञानिक विषयवस्तु से युक्त नहीं हैं। और फिर वे इतनी दरिद्र और अशिष्ट हैं कि अत्यधिक सुधार किये बिना किसी भी मूल्यवान सामग्री का उसमें अनुवाद किया जाना सभव नहीं है। सभी

पक्षों की इस विषय में सम्मति है कि यहाँ के जिन लोगो में आगे (उच्च) अध्ययन करने की क्षमता है उनके लिये प्रादेशिक भाषा को छोडकर अन्य किसी भाषा की आवश्यकता है।

तो फिर, यह भाषा कौन सी हो सकती है ? समिति के आधे लोगों का मत यह है कि वह भाषा अंग्रेजी ही होनी चाहिये। परन्तु शेष आधे लोग अरबी अथवा संस्कृत भाषा का अत्यधिक आग्रह रखते हैं। परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि आखिर यह समस्त प्रश्न कौन सी भाषा सीखने योग्य है इस विषय में है ?

मैं अरबी अथवा संस्कृत भाषा नहीं जानता। परन्तु उनका मूल्यांकन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिये जो भी आवश्यक है वह सब मैंने प्राप्त किया है। सर्वाधिक प्रतिष्ठित संस्कृत तथा अरबी भाषा के ग्रंथों का अनुवाद मैंने पढा है। पूर्व की भाषाओं के पंडितों के साथ यहाँ तथा देश में (इंग्लैंड में) मैंने विचार विमर्श किया है। पूर्व के पंडित अपने ही ज्ञान का मूल्याकंन किस प्रकार करते हैं इसका ही मैं आधार लूंगा। इन सभी पंडितो में मुझे एक भी पंडित ऐसा नहीं मिला जो इस बात से सहमत नहीं होता है कि एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक टाँड पर रखी गई पुस्तकों में जितना ज्ञान समाहित है वह संपूर्ण भारत तथा अरेबिया के कुल ज्ञान से अधिक है। यहाँ समिति में जो पूर्व के ज्ञान को प्रोत्साहित करने के पक्ष में हैं वे भी यूरोपीय ज्ञान की श्रेष्ठता का स्वीकार करते ही हैं।

इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि पूर्व के लोगों की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति उनका काव्य है। परन्तु मुझे ऐसा कोई पूर्ववादी नहीं मिला है जो महान यूरोपीय राष्ट्रों की काव्य समृद्धि के साथ संस्कृत अथवा अरबी भाषा के काव्यों की तुलना करने का साहस रखता हो। परन्तु काव्य कल्पनाओं का विश्व है। इस कल्पना के विश्व से बाहर आकर हम ऐसे साहित्य की ओर मुडें जिसमें तथ्यों का अथवा सर्वसामान्य सिद्धान्तो का निरूपण किया गया हो। इस दृष्टि से तो यूरोप की श्रेष्ठता निर्विवाद रूप से अमेय है। मुझे प्रतीत होता है कि ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि संस्कृत भाषा में लिखी गई सभी पुस्तकों की ऐतिहासिक जानकारी एकत्रित करने पर वह इंग्लैंड की एक प्राथमिक पाठशाला के लिये तैयार की गई संक्षिप्त जानकारी का समावेश करनेवाली पुस्तक से भी कम होगी। फिर भौतिक अथवा नैतिक तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में भी दोनो देशों की तुलना का स्तर इससे पृथक नहीं हो सकता।

फिर यह मुद्दा कैसे टिक सकता है ? हमें ऐसे लोगों को शिक्षित करना है जो अपनी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षित नहीं हो सकते हैं। हमें इनको कोई न कोई

विदेशी भाषा सिखानी ही पड़ेगी। इस स्थिति में हमारी अपनी भाषा (अंग्रेजी) का दावा सब से अधिक प्रबल है। यूरोप की भाषाओं में भी इसका एक प्रतिष्ठा का स्थान है। ग्रीस (यूनान) के सर्वश्रेष्ठ साहित्य से जरा भी निम्न स्तर का नहीं, ऐसा काव्य और साहित्य हमारी भाषा में है। इस भाषा के पास अभिव्यक्ति के सभी प्रकार हैं। इतिहास की रचनाओं को केवल वर्णन तथा निरूपण ही मानें तो भी इससे श्रेष्ठ निरूपण शायद ही कहीं मिलेगा। राजनैतिक तथा नैतिक विचारों की दृष्टि से तो इसकी तुलना में कोई खडा नहीं रह सकता। मानव जीवन तथा मानव स्वभाव का उचित तथा प्राणवान निरूपण, आध्यात्मिक मूल्यों, शासन, न्याय, व्यापार से संबंधित गंभीर चिंतन, स्वास्थ्य, सुविधा तथा बुद्धि के व्यापार के साथ संबंधित सभी प्रायोगिक विज्ञानों की सही तथा विस्तृत जानकारी - इतना सब जो हमारी भाषा में है वह और कहीं नहीं है। जो कोई भी यह भाषा जानता है उसे विश्व के समस्त ज्ञानवान राष्ट्रों की नई पीढी द्वारा संपादित तथा समृद्ध ज्ञान के विश्व में सहज रूप में प्रवेश प्राप्त हो जाता है। बिना किसी विरोध के, निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि इस भाषा में जो भी साहित्य उपलब्ध है वह तीन सौ वर्ष पूर्व के समग्र विश्व के समस्त साहित्य से अधिक मूल्यवान है। और यह तो कुछ भी नहीं है। भारत में अंग्रेजी शासक वर्ग की भाषा है। यह भारत के सरकारी पदों पर आसीन उच्च वर्ग के लोगों की भाषा है। यह पूर्व दिशा के समुद्री किनारे पर स्थित देशों के लिये व्यापार की भाषा बन सकती है। यह अब प्रगति कर रहे दो यूरोपीय समूहों की भाषा है। इन दो समूहों में एक है दक्षिण अफ्रिका तथा दूसरा है आस्ट्रेलिया। ये दोनों देश वर्ष प्रति वर्ष हमारे भारतीय साम्राज्य के अधिकाधिक नजदीक आ रहे हैं। हम चाहे अपने साहित्य के मूल्य को मानें या फिर देश की वर्तमान विशिष्ट स्थिति का ध्यान करें, हमारे लिये सभी विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी को ही भारत के लोगों के लिय सब से अधिक उपयोगी मानने का पूर्ण औचित्य है।

हमारे समक्ष सीधा प्रश्न यह है कि जब अंग्रेजी भाषा सिखाना हमारे बस में है, तब क्या हम ऐसी भाषाएँ सिखायें जिनके बारे में सभी जानते हैं कि किसी भी विषय में हमारी तुलना में आने योग्य कोई भी पुस्तक नहीं है ? हम यूरोपीय विज्ञान सिखा सकते हैं तब भी क्या हम ऐसी पद्धतियां सिखायेंगे जो, जिस मात्रा में यूरोपीय विज्ञान से अलग हैं उतनी ही मात्रा में हानिकारक हैं ? हम जब सारगर्भित तत्त्वज्ञान तथा सच्चा इतिहास पढा सकते हैं तब क्या हम सावर्जनिक धन खर्च करके अंग्रेजी पशुवैद्य को भी लज्जित करनेवाला वैद्यकीय सिद्धान्त, अंग्रेजी पाठशाला की छोटी छोटी बालिकाओं में

भी हास्य उत्पन्न करनेवाला खगोल शास्त्र, जिसमें तीस फीट ऊँचाई के राजा तथा तीस हजार वर्ष के उनके शासन की कहानियां आती हैं ऐसा इतिहास तथा शहद और मक्खन के समुद्र की बातें जिसमें हैं ऐसा भूगोल सिखायेंगे ?

हमारे पास मार्गदर्शन के लिये पर्याप्त अनुभव है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं। वह एक ही सीख देता है। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक समय में समस्त समाज के मानस को परिचालित करनेवाली दो स्मरणीय घटनायें हैं - ऐसी घटनायें जिन्होंने सभी पूर्वाग्रहों को पराजित किया है, ज्ञान का प्रसार किया है, रुचियों को परिष्कृत किया है तथा अज्ञान तथा जंगली देशो में कला तथा विज्ञान की प्रतिष्ठा की है।

पहली घटना १५वीं शताब्दी के अंत में तथा १६वीं शताब्दी के आरम्भ काल में यूरोपीय देशो में ज्ञान के क्षेत्र में हुई जाग्रति की है। उस समय तक पढने योग्य सब कुछ ही प्राचीन ग्रीस (यूनान) तथा रोम के लोगों ने लिख दिया था। यदि हमारे पूर्वजों ने समिति के सदस्य आज जैसा कर रहे हैं वैसा ही व्यवहार किया होता, यदि उन्होंने सिसेरो तथा टेसिटस की भाषा की उपेक्षा की होती, यदि वह हमारे द्वीप की पुरानी बोली (भाषा-सं) को ही अपनाये रहते, विश्वविद्यालयो में पढाने तथा मुद्रणकार्य करने के स्थान पर एंग्लो सेक्सन ग्रंथावलियों तथा नार्मन फ्रेन्च की प्रणयकथाओं की ही शिक्षा जारी रखी होती तो क्या अंग्रेजी भाषा आज के जैसी होती ? मोरे तथा एस्केम के लिये जो स्थान लेटिन तथा ग्रीक भाषा का था वही स्थान आज भारत के लोगों के लिये अंग्रेजी भाषा का है। प्राचीन साहित्य की तुलना में आज इंग्लैंड का साहित्य अधिक मूल्यवान है। हमारे सेक्सन तथा नोर्मन पूर्वजों का जितना मूल्य है उतना संस्कृत भाषा का है या नहीं इस विषय पर तो मुझे सन्देह है। कितनी बातों में - उदाहरण के लिये इतिहास में - इसका मूल्य निश्चित रूप से कम है।

दूसरा उदाहरण तो अभी का है। धर्मयुद्ध हुए उससे पूर्व हमारा देश जिस जंगली अवस्था में था उसी प्रकार की जंगली अवस्था में रहा हुआ देश, विगत एक सौ बीस वर्षों में अज्ञान से बाहर आकर विश्व के सुसंस्कृत देशों की पंक्ति में आ गया है। मैं रूस की बात कर रहा हूँ। आज इस देश में शिक्षित लोगों का एक बडा वर्ग है। बडे बडे महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न कर के यह वर्ग इस देश की सेवा करने का सामर्थ्य रखता है, तथा पेरिस तथा लंदन के सभ्रांत समाज के लोगों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। कहा जा सकता है कि हमारे पितामह के समय में पंजाब से भी पिछडा यह विशाल साम्राज्य हमारे पौत्रों के समय में फ्रान्स तथा इंग्लैंड के साथ प्रतिस्पर्धा करेगा। यह

परिवर्तन किस प्रकार हुआ ? राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों को सहेज कर रखने से नहीं, उनके असंस्कारी पिता जिन कहानियों को मान लेते थे उन दादी माँ की कहानियों से छोटे छोटे बालकों के मस्तिष्क भर देने से नहीं, संत निकोलस की झूठी दंतकथाएँ उनके मस्त्ष्कि में भर देने से नहीं, सृष्टि का सृजन १३ सितम्बर को हुआ था कि नहीं ऐसे गहन प्रश्न का अध्ययन करने के लिये उन्हें प्रोत्साहित करने से नहीं तथा इस प्रकार के ज्ञान से उन्हें शिक्षित कहने से नहीं। यह तो होगा ज्ञान के भंडार रूप विदेशी भाषा सीखने से, जिससे यह समग्र ज्ञान उनकी पहुँच में आ सके। पश्चिम यूरोप की भाषाओं ने रूस को सुसंस्कृत बनाया। मुझे इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि जो तार्तारों के विषय में संभव हो सका वही हिन्दुओं के विषय में भी होगा ही।

इस विचारधारा के विरुद्ध का प्रवाह सिद्धान्तों तथा व्यवहारं के विषय में क्या कहता है ? यही कि हमें देशी लोगों का सहयोग प्राप्त करना ही चाहिये और यह अरबी तथा संस्कृत भाषा सिखाने से ही संभव होगा।

जब बौद्धिक रूप से अत्यन्त प्रगतिशील एक राष्ट्र दूसरे एक अज्ञानी राष्ट्र की शिक्षा को अपने हाथ में लेता है तब सीखने वाले लोग सिखानेवाले को क्या करना चाहिये यह सूचित करें यह बात मुझे किसी भी प्रकास से मान्य नहीं है। हाँलाकि इस विषय पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यह तो अपने आप में सिद्ध तथ्य है कि हमें देशी लोगों के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। उनकी बौद्धिक रुचि के विषय में उनसे परामर्श लेना उनकी ही बौद्धिक हानि करने के समान है। हाँलाकि हम इन दोनों में से एक भी नहीं करते हैं। लोग जो चाहते हैं, जिसकी इच्छा रखते हैं, उस शिक्षा से हम उन्हें वंचित रख रहे हैं तथा जो उनको अरुचिकर है वह कृत्रिम शिक्षा उनके सिर पर थोप रहे हैं।

इसका एक सीधा सरल प्रमाण है। अरबी तथा संस्कृत भाषा पढनेवालों को हमें पैसा चुकाना पडता है, जबकि अंग्रेजी भाषा पढनेवाले पैसा देने के लिये सिद्ध हैं। अपनी पवित्र भाषा के लिये चाहे जितना भी आदर तथा प्रेम क्यों न हो, समस्त साम्राज्य में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसे यदि आप पैसा न चुकायें तो भी संस्कृत अथवा अरबी भाषा सीखने के लिये तैयार हो।

मेरे पास मदरसे का दिसम्बर १८३३ का एक महिने का हिसाब है। अरबी सीखनेवाले छात्रों की संख्या ७७ है। इन सब को समाज से दक्षिणा प्राप्त होती है। यह राशि एक महिने में पाँचसौ रूपये से अधिक होती है। दूसरी ओर हिसाब इस प्रकार हैः मई, जून, जुलाई के तीन महिनों में अंग्रेजी भाषा पढनेवाले छात्रों से प्राप्त शुल्क

व्यय बाद करने के पश्चात एक सौ तीन रूपये।

मुझे कहा गया है कि स्थानिक मापदंड का मुझे अनुभव नहीं है इसलिये इस बात पर मुझे आश्चर्य का अनुभव होता है। वय यह है कि यहाँ भारत में अपना पैसा खर्च करके पढने की परंपरा नहीं है, परन्तु इससे तो मेरा अभिप्राय और अधिक दृढ बनता है। स्वयं को उपयोगी तथा आनंददायक लगनेवाली किसी भी वस्तु के लिये स्वयं ही मूल्य चुकाना पडता है इस बात से और अधिक निश्चित संसार में और कोई बात नहीं होती। इस नियम में भारत अपवाद नहीं है। भारत के लोगों को भूख लगती है और वे भोजन करते हैं, अथवा सर्दी में ठंड लगती है और वे गरम कपडा पहनते हैं उसके लिये और कोई उन्हें पैसा नहीं चुकाता है। और अधिक निकट का उदाहरण प्रस्तुत करूं तो गाँव के बालक वर्णमाला के अक्षर तथा अंक सीखें इसके लिये गाँव के शिक्षक को उन्हें पैसा नहीं चुकाना पडता है। इसके विपरीत शिक्षक को सिखाने के बदले में पैसा प्राप्त होता है। यदि तथ्य इस प्रकार है तो संस्कृत तथा अरबी भाषा पढने के लिये क्यों पैसा चुकाना पडेगा ? इसका कारण यह है कि सब स्पष्ट रूप से मानते हैं कि यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये जो परिश्रम उठाना पडता है इसका कोई प्रतिफल इसमें से प्राप्त नहीं होता है। इन सब मामलों में बजार की जो स्थिति है वही इसका सही निकष है।

और एक बात भी यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि पुरानी पद्धति चालू रखने के समर्थक कह रहे हैं वैसी देशी लोगों की कोई भावना वास्तव में है ही नहीं। समिति अरबी तथा संस्कृत भाषा की पुस्तकों को छापने के लिये एक लाख रूपया खर्च करना उचित मानती है, परन्तु इन पुस्तकों को खरीदनेवाला कोई है ही नहीं। मुश्किल से एक आध प्रति बिकती होगी। आधे तथा एक चौथाई आकार में छापी गई २३ हजार पुस्तकें पुस्तकालयों में या टाँडों पर रखी रही हैं। पुस्तकों का निःशुल्क वितरण कर समिति इससे छुटकारा प्राप्त करने का प्रयास करती है, परन्तु उनकी वितरण करने की गति छापने की गति से कम है। पहले से ही सड रहे रद्दी कागजों के जत्थे में और अधिक वृद्धि करने के लिये प्रति वर्ष बीस हजार रूपयों का व्यय हो रहा है। विगत तीन वर्षों में इस प्रकार साठ हजार रूपये खर्च हो ही गये हैं। इस दौरान शाला पुस्तक मंडल प्रति वर्ष सात आठ हजार अंग्रेजी भाषा की पुस्तकें बेच रहा है। इससे मुद्रण का खर्च तो निकलता ही है, इसके अतिरिक्त बीस प्रतिशत लाभ भी होता है।

हिन्दू कानून संस्कृत की पुस्तकों से तथा मुस्लिम कानून अरबी पुस्तकों से ही

पढना चाहिये इस बात का बहुत आग्रह किया जाता है। परन्तु यह आग्रह जरा भी वजन नहीं रखता। हमें संसद ने भारत के कायदे कानून जानने का तथा समझने का आदेश दिया है। इसके लिये पंच की सहायता भी उपलब्ध कराई गई है। परन्तु जैसे ही यह कानून घोषित किया जायेगा तुरन्त ही एक मुनसफ अथवा सदर अमीन के लिये शास्त्र अथवा हिदाया व्यर्थ हो जायेंगे। मैं आशा करता हूं तथा मुझे विश्वास है कि अभी मदरसा अथवा संस्कृत कॉलेजों में प्रवेश लेनेवाले छात्र अपना अध्ययन पूर्ण करें इससे पूर्व यह महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा कर देना चाहिये। हम जिस स्थिति को बदल देना चाहते हैं उसी स्थिति के अनुकूल बातें नई पीढी को पढाना, इसके जैसी हास्यास्पद बात मुझे और कोई नहीं प्रतीत होती।

एक दूसरा तर्क है जो पहले तर्क से अधिक कमजोर है। कहा जाता है कि यहाँ के लोगों के लिय पवित्र माने जानेवाले ग्रंथ संस्कृत तथा अरबी भाषा में लिखे गये हैं इसलिये विशिष्ट सम्मान के अधिकारी हैं। वास्तव में भारत की ब्रिटिश सरकार को केवल सहिष्णु बनने की ही नहीं बल्कि समस्त धार्मिक बातों में तटस्थ रहने की भी आवश्यकता है। परन्तु जिस साहित्य का वास्तव में कोई स्वाभाविक मूल्य ही नहीं है, जो महत्त्वपूर्ण विषयों में अत्यधिक विकृत जानकारी देता है तो भी उसके अध्ययन को प्रोत्साहन देना यह तो बुद्धि, नैतिकता या फिर हम जिसे अत्यन्त पवित्र मानते हैं ऐसी तटस्थता की भावना के सर्वथा विपरीत बात है। सभी स्वीकार करते हैं कि इस भाषा में उपयोगी ज्ञान जरा भी नहीं है। इसमें भंयकर अंधविश्वास भरे हुए हैं। क्या इसी कारण से हमें यह सीखाना है ? हमें गलत इतिहास, गलत खगोलशास्त्र, गलत वैद्यकीय पद्धति सीखानी है क्योंकि यह एक गलत धर्म का हिस्सा है। जो लोग देशी लोगों का ईसाईयत में मतांतरण करने के कार्य में लगे हुए हैं उनको सार्वजनिक रूप से प्रोत्साहन देने से हम अवश्य दूर रहेंगे। परन्तु बकरे को मारने का पापपूर्ण कृत्य करते समय किन वेदमंत्रों का उच्चारण करना चाहिये अथवा यदि गधे को छू लिया तो किस प्रकार शुद्धि हो सकती है यह पढाने के लिए युवकों को सार्वजनिक पूंजी में से उल्टा धन देना चाहिये ? इसमें कौन सी बुद्धिमानी है ?

प्राचीन विद्या के समर्थकों ने मान लिया है कि इस देश के वासियों को टूटी फूटी अंग्रेजी से अधिक से अधिक अच्छी अंग्रेजी आ ही नहीं सकती। ये लोग बात सिद्ध नहीं कर सकते फिर भी उससे चिपके रहते हैं। अंग्रेजी के समर्थक जिस शिक्षा का समर्थन करते हैं उसे लोग केवल स्पेलिंग बुक अेज्युकेशन (शब्दपोथी शिक्षा) कह कर नीचा दिखाते हैं। वे मानते हैं कि यह प्रश्न तो हिन्दु अथवा अरबी गंभीर ज्ञान

विज्ञान तथा अंग्रेजी छीछले और क्षुल्लक ज्ञान के बीच चयन करने का प्रश्न है। यह केवल अनुमान नहीं है। तर्क तथा अनुभव से बिलकुल विपरीत यह अनुमान है। हमें ज्ञात है कि सभी देशों के छात्र हमारी भाषा में जो ज्ञान समाहित है उसे प्राप्त करने के लिये, सौंदर्य का रसास्वादन करने के लिये तथा प्रौढ भाषा का मर्म समझने के लिये हमारी भाषा सीखते हैं। इस नगर में ही अंग्रेजी भाषा में राजकीय अथवा वैज्ञानिक विषयों पर धाराप्रवाह शुद्ध अंग्रेजी भाषा में चर्चा करने की क्षमत्तायुक्त लोग हैं। शिक्षा समिति के सदस्यों की गरिमा के अनुरूप मैं जिस विषय पर अभी लिख रहा हूँ, उसी विषय की यहाँ के लोगों के द्वारा होनेवाली मुक्त तथा बुद्धि पुरस्सर होनेवाली चर्चा सुनी है। कई हिन्दू जितनी शुद्ध तथा सहज अंग्रेजी बोलते हैं वैसी मैंने साहित्यिक समूह के किसी विदेशी के मुख से नहीं सुनी है। एक अंग्रेज के लिये जिस प्रकार ग्रीक भाषा कठिन है उसी प्रकार एक हिन्दू के लिये अंग्रेजी भाषा है ऐसा तो कोई नहीं कह सकता। फिर भी हमारी संस्कृत की कॉलेजों में पढनेवाले छात्रों से कम समय में, बुद्धिमान अंग्रेज छात्र उत्तम ग्रीक लेखकों की ग्रीक भाषा पढना, समझना तथा बोलना सीख जाते हैं। वास्तव में एक अंग्रेज छात्र को हेरोडोटस तथा होमर की पुस्तक पढना सीखने में जितना समय लगता है उससे आधे समय में एक हिन्दू छात्र को ह्यूम तथा मिल्टन के ग्रंथों को पढने में समर्थ हो जाना चाहिये।

मैंने जो कहा उसका सारांश कहूँ तो यह स्पष्ट है कि हम १८१३ के संसद के कानून से बंधे हुए नहीं हैं। हम कभी भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष बन्धनों से बंधे हुए नहीं हैं। हम अपनी इच्छा से इस धन का उपयोग कर सकते हैं; हमें इस राशि का उपयोग सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को सिखाने के लिये करना चाहिये। संस्कृत तथा अरबी से अधिक सीखने योग्य भाषा अंग्रेजी है। देशी लोग भी संस्कृत अथवा अरबी नहीं परन्तु अंग्रेजी भाषा ही सीखना चाहते हैं। ज्ञान विज्ञान अथवा धर्म के लिये भी संस्कृत अथवा अरबी भाषा हमारे लिये बहुत ध्यान देने योग्य भाषाएँ नहीं हैं। देशी विद्वानों को पूर्ण रूप से अच्छे अंग्रेजी विद्वान बनाना सम्भव है तथा इसी उद्देश्य को सिद्ध करने की दिशा में हमारे समस्त प्रयास होने चाहिये।

जिनके दृष्टिकोण के मैं सर्वथा विरुद्ध हूं, उनकी एक बात में मेरी सम्मति है। हमारे सीमित साधनों से सभी को शिक्षित बनाना हमारे लिये संभव नहीं है। इसलिये यहाँ अभी एक ऐसा वर्ग तैयार करने का प्रयास करना चाहिये जो हमारी तथा हम जिस प्रजा पर शासन कर रहे हैं उन लाखों लोगों के बीच कडी बन सकें। यह एक ऐसा वर्ग होगा जो रक्त, माँस तथा वर्ण में तो भारतीय होगा, परन्तु रुचि, दृष्टिकोण, मूल्यों तथा

बुद्धि में अंग्रेज होगा। फिर इस वर्ग को हम यहाँ की भाषाओं को परिष्कृत करने का, इन भाषाओं को पश्चिम से प्राप्त ज्ञान तथा विज्ञान से समृद्ध करने का तथा क्रमशः यही ज्ञान सर्वसामान्यों तक पहुँचाने का काम सौंप सकेंगे।

मैं अभी प्रवर्तित सभी भावनाओं का सम्मान करता हूँ। जिन लोगों को किसी विशेष प्रकार की व्यवस्था की अपेक्षा है ऐसे समस्त लोगो के प्रति मैं उदारतापूर्ण व्यवहार रखूंगा। परन्तु जो व्यवस्था दूषित है फिर भी अब तक जिसको हमने पाला पोसा है उसके मूल में मैं प्रहार करूंगा। संस्कृत तथा अरबी भाषा की पुस्तकों को छापने का काम मैं तत्काल बंद करा दूँगा। मैं मदरसा तथा कोलकता की संस्कृत कोलेज को बंद कर दूंगा। वाराणसी का ब्राह्मणों (संस्कृत) का तथा दिल्ली का मोहमदन कोलेज बरकरार रखेंगे यही बहुत है। भारत की भाषाओं के संदर्भ में मेरे मतानुसार यह भी आवश्यकता से अधिक है। वाराणसी तथा दिल्ली की कॉलेजों को यदि चालू रखा जाए तो उनमें पढ रहे अथवा तो पढने के इच्छुक छात्रों को दक्षिणा देना तत्काल बन्द कर देना चाहिये। इनके लिये जो ज्ञान आवश्यक नहीं है तथा जिसे वे प्राप्त भी नहीं करना चाहते उन्हें हमें दक्षिणा की लालच नहीं देनी चाहिये। उनको हमारी शिक्षा पद्धति की स्पर्धा में टिकना चाहिये। इस प्रकार हमारा जो धन बचेगा उससे कोलकता की संस्कृत कॉलेज को और अधिक अनुदान दिया जा सकता है, इसके साथ ही फोर्ट विलियम (कोलकता) से आगरा तक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण नगरों में अंग्रेजी विद्यालयों की स्थापना करने से सरलता होगी। ऐसे विद्यालयों में अंग्रेजी पूर्णरूप से तथा अच्छे तरीके से सिखाई जा सकेगी।

महाशय मैं आशा करता हूं कि इसी प्रकार यदि आप निर्णय लेगें तो मैं पूर्ण उत्साह तथा दक्षता के साथ अपने कर्तव्यों को पूरा करने का प्रयास करूँगा। परन्तु यदि सरकार के मतानुसार वर्तमान पद्धति ही प्रर्वतित रहना उचित लगता हो तो मैं इस समिति के अध्यक्षपद से निवृत्त होना पसंद करूंगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में मेरा यहाँ कोई उपयोग नहीं होगा। यदि मैं अपने पद पर बना रहूँ, तो जिससे मैं जरा भी सहमत नहीं हो सकता वही सब कुछ मुझे करना पडेगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति सत्य की प्रतिष्ठा को बल प्रदान नहीं करती, यह तो जिसकी मृत्यु अवश्यंभावि है उसी को टालने वाली है। मुझे प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में शिक्षण मंडल कहलाने का हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम तो सार्वजनिक धन का अपव्यय करने वाले हैं। हम ऐसी पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं जिनका मूल्य इन कोरे कागजों के मूल्य जितना भी नहीं है। हम फालतू इतिहास को, हास्यास्पद अध्यात्म

को, मिथ्या भौतिकशास्त्र को, भ्रामक धर्मशास्त्र को कृत्रिम प्रोत्साहन दे रहे हैं। इससे ऐसे पंडित निर्माण होते हैं जिनका पांडित्य उलझनों से पूर्ण तथा क्षोभ उत्पन्न करनेवाला है। जब वे पढ रहे होते हैं तब दूसरों की दया पर जीते हैं और अध्ययन पूर्ण करने के बाद भी या तो वह भूखों मरते हैं नहीं तो फिर लोगों की दया पर ही उन्हें जीना पडता है। उनका पांडित्य उनकी कोई सहायता नहीं कर सकता। यदि यही सब कुछ अभी भी करना है तो बोर्ड का सदस्य बन कर मुझे इसमें सहभागी होने की जरा भी इच्छा नहीं है। बोर्ड यदि इस पद्धति में आमूल परिवर्तन नहीं करेगा तो यह सब केवल निरूपयोगी ही नहीं, उपद्रवी भी माना जायेगा।

८ मार्च १८४३ का भाषण

भारत के अधिकांश जनसमाज में मूर्तिपूजकों का समावेश है। लोग अंधविश्वास तथा कर्मकांड का अनुसरण करते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य के अत्यधिक क्षुल्लक हितों को साधने के लिये ही हैं। वास्तव में ये अत्यन्त हानिकारक हैं। मनुष्यजाति के नैतिक तथा बौद्धिक स्वास्थ्य के लिये इससे अधिक प्रतिकूल और कोई धर्म विश्व में नहीं होगा। ब्राह्मणों की पुराणकथाएँ इतनी फालतू होती हैं कि यदि सुननेवाला इनको मानने लगे तो उसका दिमाग खराब हो जायेगा। इन पुराण कथाओं की भाँति ही उनका भौतिक शास्त्र, उनका भूगोल, उनका खगोलशास्त्र भी हास्यास्पद है। उनका प्रकृतिवाद विज्ञान के साथ सुसंगत नहीं है। यही नहीं तो कला के साथ भी इसका कोई मेल नहीं है। समस्त हिन्दू धर्मशास्त्र में, प्राचीन ग्रीस की पीठिकाओं पर आसीन सुन्दर तथा भव्य मूर्तियों जैसा कुछ भी खोजने पर भी नहीं मिलेगा। सब कुछ घृणास्पद, कुरूप तथा तुच्छ है। ये सारे अंधविश्वास जितने असंगत हैं उतने ही अनैतिक भी हैं। अनिष्ट के बोधचिह्न लोगों में अत्यन्त पूजापात्र हैं। दुष्ट आचरण प्रजा को अत्यन्त धार्मिक कृत्य लगता है। पूजारी जितने मन्दिर के अंग है उतनी ही वेश्याएँ भी मन्दिर का एक अंग हैं। पूजारियों की भाँति ही वे भी भगवान की पूजा करती हैं। ऐसा धर्मशास्त्र संपत्ति तथा जीवन के प्रति द्रोह का अनुमोदन करता है। हम यदि इसमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे तो जीवित व्यक्ति को गंगा में डुबो देना तथा तथा पति के मृतदेह के साथ विधवा को उसके पुत्रों द्वारा ही चिता में जलाना जारी ही रहेगा। ठग निर्दोष मुसाफिरों के साथ हो जाते हैं, उनके प्रति मित्रता प्रदर्शित करते हैं, फिर उनके गलें में फाँसा डालते हैं, उनकी आँखें फोड देते हैं, उनको फिर जमीन में गाड कर छुपा देते हैं तथा उनका धन तथा माल सामान लूट लेते हैं। यह सब उनकी अत्यन्त

शक्तिशाली देवी के आदेश से तथा संरक्षण में होता है। मैंने ठगों की अनेक परीक्षाओं के विषय में सुना है। एक अंग्रेज अधिकारी की उपस्थिति में ऐसे दो कुख्यात ठगों की बातचीत मैंने सुनी थी। मुझे निश्चित रूप से याद है कि एक ठग दूसरे को डांटते हुए कह रहा था कि उनकी अधिष्ठात्री देवी जब बलि मांगती थी ऐसे सब संकेत मिल रहे थे, तब भी उसने एक यात्री को जीवित क्यों जाने दिया। 'तूने उसे जाने ही क्यों दिया? यदि तू देवी की आज्ञा का पालन नहीं करेगा तो यह हमारी रक्षा किस प्रकार करेगी ? यह सब तुम्हारी उत्तर की विशेषताएँ हैं।' अब ऐसे वहमों तथा अंधविश्वासों के साथ ईसाई शासक किस प्रकार अपना कार्य कर सकते हैं, यह बडा प्रश्न है। स्पेन के लोगों ने नई दुनिया के लोगों के साथ जैसा व्यवहार किया वैसा ही व्यवहार हम भी इन के साथ कर सकते थे। हमने अपना धर्म उन पर लादने के लिये जबरदस्ती की होती। हमने उन प्रदेशों पर अधिकार जमाने के लिये मिशनरियों को भेजा होता। हमने, इसाई बननेवालों को ही सरकारी नौकरी मिलेगी ऐसी व्यवस्था की होती तथा मुस्लिम अथवा मूर्तिपूजकों को नागरिक सुविधाओं से वंचित रखा होता। परन्तु हमने ऐसा कुछ नहीं किया। मुझे प्रतीत होता है कि यह बुद्धिमानी थी। शासक के रूप में धार्मिक मामलो में तटस्थता बनाये रखना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है तथा अपने धर्म में उन्हें प्रवेश दिलाने के लिये इस तटस्थता को हमने छोड दिया हो, ऐसा मुझे कहीं भी प्रतीत नहीं हुआ है। परन्तु मुझे यह कहते हुए अत्यन्त खेद होता है कि हम सच्चे रास्ते के बजाय कहीं उल्टी ही दिशा की ओर मुड गये हैं। भारत में उच्च पदों पर आसीन कई अंग्रेज ऐसा मानते हुए प्रतीत होते हैं कि विश्व में ईसाई धर्म सहिष्णुता तथा आदर के पात्र नहीं है। वे सभी ईसाई मिशनरियों के प्रति इर्ष्या, घृणा तथा द्वेष की भावना रखते हैं। हिन्दुओं की अंधश्रद्धा से प्रेरित समस्त अपराधपूर्ण कार्यों को वे दिनदहाडे करने की अनुमति देते हैं। यह अत्यन्त ही शोचनीय बात है कि बंगाल में हमारे शासन की स्थापना के बाद भी काफी लम्बे अरसे तक बालहत्या तथा सती प्रथा निरंकुश रूप से प्रचलित थी। न्यायाधीश का यह प्रथम तथा स्पष्ट कर्तव्य हम चूक गये हैं। हम मिथ्या देवताओं के मन्दिरों का शृंगार करते रहे। हम नृत्यांगनाओं का पोषण करते रहे। अज्ञान प्रजा जिसकी पूजा करती है ऐसी देव प्रतिमाओं को हम रंग चढाते रहे। वर्ष प्रति वर्ष जिसके नीचे कूद कर, कुचलकर उन्मादी भक्तगण अपने जीवन को समाप्त करते हैं ऐसे रथ की हम मरम्मत कराते रहे तथा उसे सजाते रहे। तीर्थस्थानों पर जाने वाले यात्रियों को हम सम्मानपूर्वक रक्षण प्रदान करते रहे। देवमूर्तियों को हम नैवेद्य चढाते रहे। रूढिवादी पूर्वाग्रहों से युक्त एंग्लो इन्डियनों को

प्रतीत होता था, तथा अभी भी होता है कि यह हमारी एक समर्थ नीति है। परन्तु हमें इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ है। हम जिन्हें प्रसन्न करना चाहते थे उनकी ही दृष्टि में हम नीचे गिर गये। हमने उनको ऐसा अभिप्राय रखने के लिये पर्याप्त कारण प्रदान किये हैं कि हम ईसाई धर्म तथा आदिम प्रथा के बीच कोई अन्तर नहीं मानते। परन्तु यथार्थ में दोनो में कितना बडा अन्तर है। मैं स्वयं इस प्रकार की दैवी बातों की चर्चा करने से दूर ही रहता हूँ। मैं केवल समाज की भौतिक सुविधाएं तथा नैतिक मापदंड बने रहें इसके लिये उत्सुक राजनीतिज्ञ की भाँति ही बात करता हूँ। इसी दृष्टिकोण से कहता हूँ कि जो धर्म न्याय, दया, स्वतन्त्रता, कला, विज्ञान, सुशासन, गृहजीवन की सुख सुविधा प्रदान करता है, जो धर्म गुलामी की बेडियों को तोड देता है, जिस धर्म ने युद्ध की भीषणताओं का सामना किया है, जो धर्म नारी को दासत्व तथा खिलौने रूप में उपयोग होने से मुक्त करके मित्र तथा साथी का दर्जा देता है, इस धर्म के स्थान पर ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देना मानवता तथा संस्कृति का महाद्रोह करना है।'

परन्तु क्रमशः स्थिति में सुधार आने लगा। अभी हाल ही में जिनका स्वर्गवास हुआ है उन लोर्ड वेलेस्ली ने मार्ग प्रशस्त किया था। उन्होंने बालिकाओं की हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया। वास्तव में इस देश पर उनका बहुत ही बडा उपकार है। सन् १८१३ में संसद ने भारत में मिशनरी के रूप में आने के लिये इच्छुक व्यक्तियों को नई सुविधाएँ देने की घोषणा की। लोर्ड विलियम बैन्टिक ने सती प्रथा को समाप्त किया इसके बाद कुछ समय में, अभी जिसकी चर्चा हो रही है, ऐसे मामलों से सम्बन्धित एक मुसद्दा गृह सरकार की ओर से कोलकता भेजा गया है। लोर्ड ग्लेनगो ने यह मुसद्दा स्वयं लिखा था। मैं उस समय बोर्ड ऑव् कन्ट्रोल में था इसलिये प्रत्यक्ष जानकारी के आधार पर यह कह रहा हूँ। इस मुसद्दे का ६२ क्रमांक का अनुच्छेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मैं उस कंडिका को इतनी अच्छी तरह से जानता हूँ कि उसे अक्षरशः अभी बोल सकता हूँ। इसमें अत्यन्त संक्षेप में परन्तु अत्यन्त स्पष्ट रूप से भारत की मूर्तिपूजा के विषय में ब्रिटिश सत्ताधीशों को क्या करना चाहिये इसकी सूचना दी गई है। गृह सरकार को आदेश दिया गया है कि मन्दिरों की व्यवस्था पूर्ण रूप से देशी लोगों को सौंप दी जाए। स्थानिक अधिकारियों को यह निश्चित करने की अनुमति दी गई है कि अंग्रेज सरकार तथा ब्राह्मणीय अंधविश्वास के बीच का नाता समाप्त करने के लिये क्या किया जाए तथा इसके लिये कितना समय दिया जाए। फिर भी सिद्धांतों को स्पष्ट किया ही गया है। यह बात सन् १८३३ की है। सन् १८३३ में एक दूसरा भी खरीता

आया था जिसमें इस ६२वे अनुच्छेद का उल्लेख था तथा इसमें दिये गये आदेशों का पालन करने का आग्रह किया गया था। फिर से १८४१ में इसी विषय के सम्बन्ध में और अधिक निश्चित आदेश भेजे गये थे। मुझे प्रतीत होता है कि लोर्ड एलनबरो ने इसका गहन अध्ययन किया था तथा उनका इरादा इसके एक एक शब्द तक सीधा सीधा उल्लंघन करना था। आप लोग कुनबुना रहे हैं परन्तु निदेशक का आदेश देखें तथा गर्वनर जनरल की घोषणा की ओर ध्यान दें। आदेश स्पष्ट रूप से तथा विधायक दृष्टि से कहता है कि भारत के ब्रिटिश अधिकारी मन्दिरों का शृंगार नहीं करेंगे, मन्दिरों को सैनिक सम्मान नहीं दिया जायेगा। माननीय श्री लोर्ड एलनबरो के खिलाफ मेरा प्रथम आक्षेप यह है कि उन्होंने जिसके द्वारा उनको अधिकार प्राप्त हुआ है उनके द्वारा दिये गये आग्रहपूर्ण आदेश का ही पूर्ण रूप से उल्लंघन करने का अपराध किया है। गृह सरकार कहती है कि ऐसे आदिम देवताओं के मन्दिरों के मामले में हस्तक्षेप न करें। अब लॉर्ड एलनबरो ने इन मन्दिरों के मामले में हस्तक्षेप किया है इस बात का कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है ? गृह सरकार कहती है कि विष्णु के मन्दिरो में भेंट सौगात नहीं चढाएँ। लोर्ड एलनबरो समस्त विश्व के समक्ष घोषित करते हैं कि वे मन्दिरों में भेट चढायेंगे। गृह सरकार कहती है कि मन्दिरों का शृंगार मत करो। लोर्ड एलनबरो समस्त विश्व के समक्ष ऐलान करते हैं कि इन मन्दिरो की रक्षा के लिये सैनिक दल नियुक्त करो। क्या लोर्ड एलनबरो ने यह नहीं किया है?

हम सब जानते हैं कि यह मन्दिर (सोमनाथ) जीर्ण अवस्था में है। मुझे विश्वास है कि लोर्ड एलनबरो जानते थे कि मन्दिर जीर्ण अवस्था में है। उनका इरादा सार्वजनिक धन खर्च करके उस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने का था। उनके कहने का अर्थ स्पष्ट ही है। परन्तु यह अर्थ इतना भयानक है कि यहाँ उपस्थित कोई इसका बचाव नहीं कर सकता। इसीलिये उनके मित्र कहते हैं कि एलनबरो की जानकारी के अनुसार इस मंदिर का जीर्णोद्धार पहले ही हो चुका है तथा ऐसा कुछ करने का उनका इरादा नहीं है। मैं इस बात को कैसे मान सकता हूं ?

गृह सरकार की ओर से कोई सूचना न मिलने पर भी पूर्व के मिथ्या धर्म से सम्बन्धित किसी विवाद में स्वयं को शामिल नहीं करना चाहिये यह बात उनकी समझ में आनी चाहिये थी। इस धर्म के प्रति किसी भी प्रकार की सहृदयता प्रदर्शित नहीं करना यह उनके सरकारी पद के अनुरूप उनका कर्तव्य था। साथ ही किसी भी धर्म का अपमान नहीं करने का भी उनका कर्तव्य था। परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से एक धर्म की तरफदारी तथा दूसरे का अपमान किया है। उन्होंने सर्वाधिक हीन तथा निम्न

कक्षा के धर्म की तरफदारी की और सर्वाधिक तथा उत्तम धर्म का अपमान किया। उन्होने लिंग धर्म की तरफदारी की और महमदी धर्म का अपमान किया है। लिंग की पूजा केवल मूर्तिपूजा ही नहीं बल्कि सबसे अश्लील प्रकार की मूर्तिपूजा है। बोर्ड ऑव् कन्ट्रोल के माननीय सचिव महोदय को लगा कि विष्णु के स्थान पर शिव की पूजा करने से उनकी महान विजय हुई है। परन्तु महाशय, विष्णु पोषण करने वाले देव हैं, जब कि शिव संहार के देवता हैं। मेरे मतानुसार गर्वनर जनरल को दो में से कोई एक का चयन करना हो तो मुझे संहार करने वाले नहीं परन्तु पोषण करनेवाले देव ही चयन करने योग्य लगते हैं। हाँ, महोदय, सोमनाथ का मन्दिर तो शिव का है तथा माननीय महोदय यह जानते ही होंगे कि शिव का प्रतीक क्या है तथा किस प्रकार की विधि से उसकी पूजा की जाती है। मैं और अधिक अब कुछ नहीं कहूँगा। गर्वनर जनरल अपने अपराध द्वारा ही अपना रक्षण भी करते हैं। वे सार्वजनिक रूप से जिस के लिये लज्ञा का अनुभव नहीं करते हैं उसे बोलने में मुझे लज्ञा का अनुभव हो रहा है। इस संहार के देवता का स्वरूप तथा उसकी पूजा का वर्णन करना शिष्टता का भंग करने के समान है। परन्तु महाशय ने पूजा के लिये उनका चयन किया है। अपमान करने के लिये उन्होंने ऐसे धर्म को चुना है जिसने धर्म तथा नैतिकता के मामले में ईसाई धर्म से बहुत कुछ स्वीकार किया है और जो इतने अधिक बहु ईश्वरवाद के बीच में भी एक ईश्वरवाद सिखाता है तथा मूर्तिपूजा का निषेध करता है। हमारी सरकार का कर्तव्य है कि मूर्तिपूजक तथा मुसलमान-दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं लेना।

४. १९ वीं शताब्दी के पूवार्ध तक के ब्रिटन का विहंगावलोकन

सन् १८१३ में ब्रिटिश संसद में भारत के ईसाईकरण से विषय में चल रही चर्चा के दौरान विलियम विल्बरफोर्स ने अपने व्यक्तव्य में ईसाईधर्म के आशीर्वाद की बातें करते हुए सारांश प्रस्तुत किया कि प्राचीन अथवा आधुनिक काल में, किसी भी देशने कभी भी जिनका उपभोग नहीं किया होगा इतनी सुविधाएँ, हम केवल अपने मूल्यवान संविधान के कारण ही आज इतने विस्तृत पैमाने में प्राप्त कर रहे हैं। ब्रिटन का यह मूल्यवान संविधान कैसा था? इस संविधान के विषय में संक्षेप में इस प्रकार जानकारी दी जा सकती है।

१. मतदाता समूह : सन् १८३१ में, कानून को लागू करने से पूर्व, मतदाता सूची का विस्तार किया गया था। उसके अनुसार मतदाताओं की संख्या वयस्क पुरुषों की जनसंख्या का ७.१ प्रतिशत थी। वयस्क पुरुषों की जनसंख्या के ४.४ प्रतिशत अर्थात् ४,३८,००० पुरुषों को मताधिकार था। माना जा सकता है कि सन् १८१३ और सन् १८३१ की स्थिति में कोई अन्तर नहीं था।

२. आय : उस समय के (तथा लगभग एक शताब्दी तक) अंग्रेजों को जो समृद्धि तथा सुविधायें उपलब्ध थीं, उसके आधार पर उनको आर्थिक दृष्टि से चार विभागों में बाँटा जा सकता है। एक प्रख्यात अधिकारी श्री पेट्रिख कोल्कहोन द्वारा सन् १८१२ में यह सर्वेक्षण कराया गया। उन्होंने सन् १८१२ में ब्रिटन की कुल आय ८३,०५,२१,३७२ पाउन्ड स्टर्लिंग मानी थी। इसके पश्चात उन्होंने प्रति परिवार प्रति व्यक्ति उसको बाँटा। उनके विवरण के आधार पर कुल आय चार प्रमुख विभागों में निम्नानुसार बांटी गई है।

	प्रत्येक परिवार के मुखिया की संख्या	प्रति परिवार औसतन वार्षिक आय (पाउन्ड स्टर्लिंग)
प्रथम विभाग		
सांसारिक लोर्ड (उमराव)	५१६	१०,०००
आध्यात्मिक लोर्ड (मुख्य पादरी तथा अन्य पादरी)	४८	५,०१०
बेरोनेट	८६१	३,५१०
नाईट तथा एस्क्वायर्स	११,०००	२,०००
अपनी आय पर जीने वाले गृहस्थ तथा स्त्रियां	३५,०००	८००
प्रख्यात बेंकों के मालिक तथा समस्त व्यापारी वर्ग	३,५००	२,६००
कुल	५०,९२५	–
द्वितीय विभाग		
उच्च नागरिक तथा सैनिक अधिकारी	५०,८८०	९,८०,२००
प्रख्यात पादरी	१५००	७२०
छोटे पादरी	१७,५००	२००
न्यायाधीश, वकील, सरकारी वकील इत्यादी	१९,०००	४००
वैद्य, शस्त्रक्रिया वैद्य (सर्जन) तथा रसायनशास्त्री (इत्यादि)	१८,०००	३००
कलाकार, शिल्पकार तथा पत्थर उकेरने वाले	५,०००	२८०
अच्छी जमीन के मालिक	७०,०००	२७५
छोटे व्यापारी	२२,८००	८०५
इन्जिनियर, सर्वेक्षणकार तथा प्रख्यात भवन निर्माता	८,७००	३००

जहाज के मालिक तथा विविध वस्तुओं के उत्पादक	५४,१५०	९०४-६००
विश्व विद्यालय के अध्यापक	८७४	६००
कुल	२,६८,४०४	

तृतीय विभाग

छोटे स्वतंत्र जमीन के मालिक तथा किसान	४,९०,०००	१२०-१००
छोटे उत्पादक जैसे कि दरजी, टोपी बनाने वाले	४३,७५०	१८०
दुकानदार तथा फुटकर व्यापारी	१,४०,०००	२००
क्लर्क, दुकानदार तथा अन्य फुटकर व्यापारी	९५,०००	७०
होटल के मालिक तथा सराय वाले	८७,५००	१००
पाठशाला के मालिक तथा पूंजी लगाने वाले शिक्षक	३५,०००	२०४
पादरी	५,०००	१००
नाट्यगृह के कलाकार इत्यादि	८७५	२००
कुल	८,९७,१२५	—

चतुर्थ विभाग

आधा वेतन पानेवाले अधिकारी	६,५००	१००
सामान्य सिपाही	२,८०,०००	३५
खलासी तथा जहाज के सिपाही	१,७१,५४०	४२
सेना के निवृत्त पेन्शन लेनेवाले अधिकारी (इत्यादि)	४२,०००	१५
खेती, खानों इत्यादि में मजदूरी करनेवाले (स्त्रियों की आय सहित) इत्यादि	७,४२,१५१	४५
व्यापारियों के जहाज पर काम करने वाले मजदूर, मछुआरे इत्यादि	१,८०,०००	४५

छतरी, तथा गर्मी का छाता बनानेवाले, धोबी इत्यादि	७०,०००	५०
कारीगर, (कारखाने के तथा मकान निर्माण के)	१०,२१,९७४	४८
फुटकर व्यवसाय करने वाले फेरिया	१,४००	४५
कर्जे के कारण बने हुए कैदी	३,५००	३०
निर्धन लोग तथा फुटकर	-	-
मजदूरी से आय प्राप्त करनेवाले	३,८७,१००	१०
कुल	२८,९९,६६५	-

राजपद पर आसीन लोगों की आय १,७२,००० पाउन्ड स्टर्लिंग से लेकर १८,३०० पाउन्ड स्टर्लिंग तक थी। बहुत सारे उमराव (लोर्डस, एस्क्वायर्स) प्रख्यात व्यापारी, बैंक मालिक, इत्यादि की आय इस से भी अधिक थी। स्वयं विल्बरफोर्स की वार्षिक आय ३०,००० पाउन्ड स्टर्लिंग थी ऐसा माना जाता है।

३. जमीन की मालिकी : सन् १८१३ में इंग्लैंड एक कृषिप्रधान देश था। इस समय में जमीन के मालिकों की स्थिति इस प्रकार थी।

	परिवारों की संख्या	आय में अन्तर (पाउन्ड स्टर्लिंग)	कृषि योग्य जमीन की मालिकी का अनुपात (प्रतिशत में)
(१) बडे जमीन मालिक	४००	५०,००० से ५,०००	२० से २५%
(२) कुलीन मध्य वर्ग	-	-	-
(क) धनवान लोग जमीनदार	७००-८००	५,००० से ३,०००	५० से ६०%
(ख) ग्रामीण जमीनदार	३०००-४०००	३००० से १०००	

(ग) सदगृहस्थ	१०,०००-२०,०००	१,००० से ३००	-
(३) स्वतंत्र जमीन मालिक			
(क) अच्छी उपजाऊ जमीनवाले	२५,०००	७०० से १५०	१५ से २०%
(ख) कम उपजाऊ जमीनवाले	७५,०००	३०० से ३०	-

इसके अतिरिक्त लगभग दस लाख से भी अधिक लोगों के पास जमीन नहीं थी। इन लोगों का परिवार मजदूरी (दैनन्दिन) करता था अथवा किराये पर काम करता था। सन् १८७३ तक इस स्थिति में बहुत कम बदल हुआ था।

	जमीन मालिकों की संख्या	जमीन एकड़ में
उमराव तथा स्त्री उमराव	४००	५७,२८,९७९
बडे जमीनदार	१२८८	८४,९७,६९९
ग्राम्य प्रदेश के जमीनदार	२५२९	४३,१९,२७१
छोटे जमीनदार (योमेन)	९,५८५	४७,८२,६२७
सबसे छोटे जमीनदार (छोटे योमेन)	२४,४१२	४१,४४,२७२
छोटे मकान मालिक	२१७,०४९	३९,३१,८०६
झोंपडी में रहनेवाले	७,०३,२८९	१,५१,१४८
सार्वजनिक जमीन	१४,४५९	१४,४३,५४८
जमीन निरुपयोगी	-	१५,२४,६२४
कुल	**९,७३,०११**	**३,४५,२३,९७४**

४. सरकारी खर्च : उस समय के सरकारी व्यय के विवरण से ब्रिटन के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है। सन् १८५० तक ब्रिटेन के किसी बडे युद्ध में भाग न लेने के कारण, उस समय भी कुल राजस्व का आधा हिस्सा सार्वजनिक ऋण के व्याज तथा व्यवस्था करने के खर्च में ही व्यय हो जाता

था। शेष के आधे हिस्से से २/३ हिस्सा पैदल सेना, नौका दल तथा व्यवस्थातंत्र पर तथा लगभग १/३ नागरिक व्यवस्थापन पर खर्च होता था। सन् १८०० तक नागरिक सरकार में निजी संपत्ति तथा राज परिवार के सदस्यों को दिया जाने वाला भत्ता, विदेश में कार्यरत राजूदतों, गुप्त सेवा धन के लिये किया जाता था। गुप्त सेवा का वास्तविक अर्थ है गुप्तचरों द्वारा की गई जासूसी। न्यायकि प्रक्रिया पर किया गया खर्च, टंकसाल का खर्च इत्यादि के बाद इस व्यय में शिक्षा, विज्ञान तथा कला पर किया गया खर्च गिना जाता था। सन् १७७२ तथा सन् १८६८-६९ के वर्षों के बजट का मुख्य बंटवारा इस प्रकार था।

वर्ष	ऋण की किंमत	भूमिदल	नागरिक	कुल खर्च
१७७२-७३	४६,४९,०६४	३६,९४,६९९	१६,३३,११५	९९,७६,८८०
१८०१	१,८४,८१,२८१	३,३६,९१,८१२	६४,६७,९१६	५,८६,४१,०१०
१८३०	२,९१,१८,८५९	१,३९,१४,६७७	८९,८४,०८१	५,२०,१८,६१७
१८६८-९	२,६६,११,४१९	३,१८,९१,५४५	१,६९,८७,९४५	७,५४,९०,९०९

५. राज्य की रोजगार व्यवस्था : राज्य के खर्च के उपरि निर्दिष्ट विवरण से स्पष्ट हो रहा है कि अधिकांश रोजगारी भूमिदल, नौकादल, तथा व्यवस्थातंत्र में थी। सेना में उच्च स्तर के विभिन्न पदों के लिये नियुक्त किये जाने का एक भाव होता था। सन् १८०८ में लेफ्टनन्ट कर्नल के पद का भाव ५००० से ७००० पाउन्ड, मेजर तथा कैप्टन के लिये लगभग ४००० पाउन्ड, लेफ्टनन्ट के पद के लिये १५०० पाउन्ड तथा कार्नेट का १२०० पाउन्ड था। सन् १८२१ के विनियम के तहत निश्चित किये गये भाव सन् १८५७ में चलते थे जो बहुत उंचे थे। सन् १८०० के समय में समाज के एक खास वर्ग के पुरुषों के लिये सेना में सैनिक के रूप में भरती होना अनिवार्य कर दिया गया था।

नागरिक सरकार में पद जितना उच्च होता था काम उतना ही कम रहता था। एक तत्कालीन अध्ययन के अनुसार सन् १८०८ में विभिन्न क्षेत्रों के मुख्य अधिकारियों का कुल वार्षिक खर्च ३,५६,५५५ पाउन्ड था। ऐसे उँचे पद, बिना अपवाद के केवल उमराव ही पाते थे। स्काटलैन्ड के सरकारी कोष के रक्षक से ले कर खुले बाजार की सफाई करनेवाले तक के समस्त पदों पर छोटे बडे उमराव ही रहते थे। इनमें बाजार के उपर कब्जा जमाने का गौरव महिला उमराव पाती थी। यही लेखक आगे कहते हैं

कि बडे परिवारों के आधार पर जीवन व्यतीत करनेवाले लोग तथा इस कुल के प्रतिनिधियों से निवृत्ति वेतन पाने का स्थान भी हमेशा लोगों से भरा रहता था। सन् १८३० तक तो ४२ जितने निवृत्ति वेतन लेनेवाले तथा १५ उच्च उमरावों सहित, उच्च स्तर पर विविध क्षेत्रो में कार्यरत लोगों के लिये सार्वजनिक कोष से प्रति वर्ष ३,३९,८०९ पाउन्ड का खर्चा होता था। इस लेखक के मतानुसार सन् १६८९ से १८३० के समय में 'नागरिक तथा सैनिक' दोनों प्रकार के 'पदों की बिक्री' को सिद्धान्त का ऊँचा दर्जा दिया गया था।

राजस्व की वसूली जैसे छोटे छोटे कामों के लिये एकाधिकार दिया जाता था जिसमें व्यक्ति को दलाली मिलती थी, अथवा राज्य को निश्चित राशि चुका देने के बाद, शेष राशि उसे अपने पास रखने की स्वतंत्रता थी। इस्ट इन्डिया कम्पनी द्वारा वसूल किये जानेवाले राजस्व में सबसे बडा स्रोत चाय का कर था। प्रति वर्ष ३० से ८० लाख पाउन्ड स्टर्लिंग जितना यह कर बहुत कम खर्च पर वसूल किया जाता था।

६. शिक्षा : ब्रिटन की अधिकांश प्राथमिक शालायें १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में स्थापित की गई थीं। उसी समय ब्रिटेन में विद्यालय की नई पद्धति स्वीकार की गई थी। इस नई शिक्षा पद्धकि के विषय में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के निदेशकों ने उस समय के उनके बंगाल के गर्वनर जनरल को इस प्रकार लिखा था।

२०. ''अत्यंत प्राचीन समय से यहां के शिक्षकों के द्वारा जिस पद्धति से शिक्षा दी जाती है'' उसे अत्यंत प्रशंसा प्राप्त हुई है और पूर्व में मद्रास में चैपलीन रहे रेवरंड डा. बेल के मार्गदर्शन में इस देश में उसका स्वीकार किया गया है। इस पद्धति से शिक्षा देना अत्यन्त सरल हो गया है। अतः उसने हमारी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में स्थान प्राप्त किया है।'' (सार्वजनिक संदेश, ३-६-१८१४ अेच, अेल, पेपर्स १८५२-३-२६)

इस पद्धकि को लागू करने से पूर्व सन् १७९२ में प्राथमिक शालाओं में पढनेवाले छात्रों की कुल संख्या लगभग ४०,००० थी। सन् १८१८ में लगभग ५०० माध्यमिक शालाओं में १०,००० छात्र पढते थे। इस समय इंग्लैंड में ओक्सफर्ड तथा केम्ब्रिज दो ही विश्वविद्यालय थे, जिनमें सन् १८५१ में लगभग ३,२०० छात्र संख्या थी।

७. न्यायिक सजायें : १८वीं शताब्दी के पूर्वाध तक मजदूरी के महत्तम वेतन के दर कानून द्वारा निश्चित किये जाते थे। इस महत्तम दर से अधिक वेतन लेना अपराध माना जाता था। साथ ही मजदूरी के लिये एक प्रदेश से अन्य में स्थानांतर

करने के लिये मजदूर को पूर्व अनुमति लेनी पडती थी। इनमें अधिकांश कानून तथा नियम सन् १७५० के बाद बदले गये थे अथवा तो उनका प्रचलन नहीं रहा था।

परन्तु फौजदारी कानून का भंग और उसका दंड अलग बात थी। सन् १८१८ में संसदीय समिति के मतानुसार इंग्लैंड में २०० जितने अपराधों को दर्ज किया गया था। पाँच शिलिंग अथवा इससे अधिक राशि की चोरी के लिये मृत्युदंड की सजा दी जाती थी। इस समय कानून में परिवर्तन किये गये, और इस प्रकार के अपराधों में मृत्युदंड के स्थान पर १४ वर्ष देश निष्कासन की सजा निश्चित की गई। भूमिदल तथा नौकादल में दण्ड स्वरूप कोडे मारने की सजा दी जाती थी जो १८वीं शताब्दी के मध्य तक प्रचलन में थी। दण्ड के रूप में सौ कोडे मारना बिलकुल सामान्य था। कभी कभी तो २००० कोडे भी मारे जाते थे।

८. उत्पादन क्षमता तथा खेत मजदूरी : १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ब्रिटन की कृषि उत्पादनक्षमता बहुत कम थी। एडिनबरो रीव्यू' (अंक ४, जुलाई १८०४) के अनुसार, ब्रिटन की गेहूं की कुल उपज, भारत के इलाहाबाद में एक एकड़ की गेहूं की उपज का $^1/_3$ भाग थी। साथ ही भारत के कृषि मजदूरों की तुलना में अंग्रेज कृषि मजदूरों का वेतन काफी कम था। 'रिव्यू में इस प्रकार विवरण दिया गया है -

'प्रतीत होता है कि दोनों देशो में खेतों में बुआई करते समय बीजों का जथ्था एक समान होने पर भी भारत में फसल तीन गुना प्राप्त होती थी। अधिक ध्यान देने योग्य बात मजदूरों के वेतन सम्बन्ध में है। प्रचलित गणना के अनुसार इंग्लैंड में प्रतिवर्ष गेहूँ का एक चौथाई भाग भोजन के उपयोग में लिया जाता था। प्रति व्यक्ति खपत छ बुशेल थी। (१ बुशेल अर्थात् ८ रतल अर्थात् लगभग ४ कि. ग्राम) शेष. ७ (?) क्वार्टर से' उसे मकान, कपडा, कर तथा अन्य खर्च जो जीवन के लिये आवश्यक है वे सब उठाने पडते थे। भारतीय खेत मजदूर को, अंग्रेज किसान जितना हिस्सा वेतन के रूप में मिलता है। फिर उसे उसकी आय से अन्य खर्च नहीं उठाने पडते हैं। वास्तव में यहाँ जो बताया गया है वही ठीक है क्यों कि बनारस में उस समय वेतन के विषय में यही वास्तविकता थी) हम वेतन की इस विलक्षण स्थिति को समझ नहीं सकते हैं। फिर भारतीय खेत मजदूर वर्ष में निश्चित समय अपने निर्धारित वेतन के अलावा एक विशेष भत्ता भी प्राप्त करता है। इस भत्ते की राशि बडी होती है। इसे देख कर कहा जा सकता है कि इस प्रकारं का भत्ता अत्यन्त समृद्धि के समय से ही दिया जाता होगा अथवा वेतन के नियमों को सरल बनाने के उद्देश्य से इसको स्वीकार किया गया होगा। भारतीय द्वीप के दक्षिण के प्रदेशों में भी इसी प्रकार का

प्रचलन है।''

९. अंग्रेजी विज्ञान तथा तंत्रज्ञान बनाम अंग्रेज परंपरा : सन् १८५० के पूर्वार्ध में आयोजित लंडन के मध्य प्रदर्शन (ग्रेट लन्दन एग्झीबिशन) से यूरोप तथा अन्य देशों से आये प्रवासी आश्चर्यचकित हो गये थे। इस प्रदर्शन ने प्रस्थापित कर दिया कि विश्व के किसी भी देश से ब्रिटन विज्ञान तथा तंत्रज्ञान में अत्यन्त आगे था। परन्तु एक दशक के पश्चात् ब्रिटन ने अनुभव किया कि इस अवधि में फ्रान्स, जर्मनी इत्यादि देश ब्रिटन से आगे निकल गये थे। संसदीय तथा अन्य समितियों द्वारा इस विषय पर शोध करने के पश्चात्, ब्रिटन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि फाँस, जर्मनी तथा अन्य देशों की योग्य प्रकार की शिक्षण पद्धति ने उनको ब्रिटन से आगे कर दिया है। फिर भी ब्रिटन अपनी सामाजिक असमानता पर आधारित शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करने के लिये तैयार नहीं था। सन् १९२० के पश्चात् ब्रिटन में धीरे धीरे समानता आने लगी।

१०. निजी मालिकी के जहाज : अंग्रेज नौकादल तथा उसके सहायक निजी मालिकी के जहाज के विषय में थोडी जानकारी यहाँ पर दी जा सकती है। यूरोप के अन्य देशों के पास भी ऐसे निजी मालिकी के जहाज थे। १८वीं शताब्दी के अन्त में, ब्रिटन के उचस्तरीय अभिलेखों से निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है। ब्रिटिश लाईब्रेरी अेड.अेम.अेस. ३८३५१, ३-९३ लोर्ड होक्सबरी (बाद में लीवरपुल के प्रथम उमराव द्वारा प्रधानमंत्री डबल्यु.पीट को ता. १२-१०-१७९१)

'युद्ध के इस समय में महान ब्रिटन के नौकादल के दो भाग हैं। एक तो राजा के युद्ध जहाज जो 'प्राइवेटीयर्स' के नाम जाने जाते हैं। संसदीय कानून की व्यवस्था के अनुसार इन निजी जहाजों के मालिको की माँग के अनुसार इन जहाजों को उनकी दलाली, सेनापति के सत्ता के क्षेत्र से, लोर्ड हाई एडमिरल अथवा लोर्ड कमिश्नर को चुकानी होती है।

समुद्री युद्ध के समय केवल सरकार ही नहीं, परन्तु समग्र देश भाग ले सकता है तथा इस प्रकार की भावना होती है तो हम कभी हताश नहीं हो सकते। राजा तथा संसद के दोनों भवनों के मंतव्य के अनुसार राजा ने निजी मालिकी के जहाजों द्वारा प्रत्येक युद्ध के अन्त में की जानेवाली लूट तथा उससे प्राप्त वस्तुओं के अधिकार को छोड दिया है तथा संसद ने उनका उत्साह बढाने के लिये अनेक सुन्दर प्रावधान किये हैं।

राज की मालिकी के जहाजों का निभाव सार्वजनिक खर्च के लिये रखी गई

पूंजी से होता है। निजी मालिकी के जहाजों को सार्वजनिक खर्च के लिये रखी गई राशि से सहायता नहीं दी जाती परन्तु उनका खर्च उनके द्वारा जप्त किये गये लाभ से चुकाया जाता है।

इस प्रकार जैसे जैसे जप्ती के अवसर कम होते जाते हैं वैसे वैसे निजी मालिकीवाले जहाजों का लाभ भी कम होता जाता है। यदि निजी मालिकी के जहाजों के मालिकों को लूट अथवा जप्ती अधिकार का निषेध किये जाने के पश्चात्, अपने खर्च तथा अपने साहस पर जहाज चलवाने लगेंगे तो हमें संयुक्त सेना के विचार को ही स्थगित कर देना पडेगा। युद्ध के समय में राजा के जहाज, दुश्मनों के युद्ध जहाजों पर आक्रमण करके उनका विनाश करते हैं तथा इस प्रकार हमारे ब्रिटन को समुद्र की रानी बनाते हैं। इसके पश्चात् निजी मालिकी के जहाज आगे बढ कर सफलतापूर्वक शत्रु के व्यापार वाणिज्य का नाश करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।'

और भी,

'हमें ज्ञात है कि, हमारे नौका दल के अधिकारियों ने, अपने नौकरी के वेतन द्वारा नही परन्तु जिस जहाज का कब्जा वे करते थे उन जहाजों की सहायता से व्यापारियों की जप्ती करके अपना भविष्य बनाया है। यदि हम अंग्रेज नौकादल के अधिकारियों से उनके भविष्य को बनाने का यह अधिकार छीन लेंगे अथवा कुछ सीमा में उसे नियंत्रित करेंगे, हम एक प्रकार से सुन्दर कार्य करने के लिये१ उनके उत्साह तथा प्रेरणा को ही छीन लेते हैं।'

ये वही निजी मालिकी के जहाज थे, जो १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में भारतीय समुद्र, विशेष कर के भारत के पश्चिमी तट पर कार्यरत थे तथा समय व्यतीत होने के साथ जिन्होंने भारतीय शासकों के साथ ब्रिटन के झगडों को आरम्भ कराया था। उपर बताया जा चुका है उसके अनुसार ब्रिटन की कानूनी व्यवस्था के अनुसार अंग्रेजो के नौकादल को, भारत में चलाई गई लूट से हिस्सा दिया जाता था। इसी प्रकार कोलकता पर अधिकार जमाने के बाद की लूट से एडमिरल वॉटसन तथा कर्नल रोबर्ट क्लाईव को हिस्सा प्राप्त हुआ था।

११. ईसाईयत, गिरजाघर तथा लोग : ईसा की पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में रोम से ईसाईधर्म के प्रसार का आरम्भ हुआ था। इसाई मत ने २०० वर्षो में इतना प्रभाव जमा दिया कि चौथी शताब्दी के पूर्वाध में, रोम का सम्राट कोन्स्टेन्टीन मतपरिवर्तन करके ईसाई बना। उसके पीछे साम्राज्य की समस्त प्रजा ईसाई मानी गई। यूरोप के विद्वानों का विचार है कि १५वीं शताब्दी के अन्त में ही समग्र यूरोप पूर्ण

रूप से ईसाई क्षेत्र माना जा सकता है।

१६वीं शताब्दी के आरम्भ में रोम के गिरजाघर तथा विभिन्न प्रकार से प्रोटेस्टंट माने जाने वाले समूह में विभाजन हुआ। इन दो विभागों के कारण दशकों तक यूरोप में बडे बडे युद्ध हुए। अन्त में सन् १५६४ में ओग्सबर्ग की सन्धि के तहत निश्चित किया गया कि राजा का धर्म ही उसकी प्रजा का धर्म होगा। परिणाम स्वरूप यूरोप में व्यापक पैमाने में स्थानांतरण हुए। केथलिक लोग केथलिक राजा के राज्यों में तथा प्रोटेस्टंट लोग प्रोटेस्टन्ट राजाओं के प्रदेश की ओर जाने लगे।

१८वीं शताब्दी के अंत में ब्रिटन में उचित ढंग से साप्ताहिक प्रार्थना करने हेतु विशेष कानून बनाया गया। जिसके तहत सभी को अपने निजी तथा सार्वजनिक काम छोडने पडते थे। पूरा ब्रिटेन रविवार को चर्च में जाता था। परन्तु अधिकांश गिरजाघरों में स्थान का अभाव था। वहाँ की बैठकें (कुर्सी, बेन्च इत्यादि) धनवान लोगों द्वारा पहले से ही खरीद ली जाती थीं। अतः अधिकांश प्रजा रविवार की उपासना के समय गिरजाघर के बाहर खडी रहती थी।

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ में उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमें हुआ था। उनकी शिक्षा डी. ए. वी. कालेज, लाहौर में हुई। १९३० में ८ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गांधीजी को देखा । उसके एक ही वर्ष बाद सरदार भगतसिंह एवं उनके साथियों को फाँसी दी गई। १९३० में ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर में कोंग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गांधीभक्त एवं गांधीमार्गी रहे।

१९४० में, १८ वर्ष की आयु में उन्होंने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ में 'भारत छोडो' आन्दोलन में भाग लिया। १९४४ में उनका परिचय मीराबहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एवं हरिद्वार के बीच सामुदायिक गाँव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गाँव का नाम था 'बापूग्राम'। आज भी बापूग्राम अस्तित्व में है। १९४९ में भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत में जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य में भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ में वे इंग्लैण्ड, इझरायल और अन्य देशों की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० में वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली में रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप में कार्यरत रहे। अवार्ड की संस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं, परंतु कुछ ही समय में श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ में श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पंचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ में लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन में रहे। इन अठारह वर्षो में भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) में रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम, वर्धा में रहे।

१९४९ में उनका विवाह अंग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में,

बापूग्राम में, दिल्ली में, सेवाग्राम में उनके साथ रहीं। १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति में वाराणसी में मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान में बालिकाओं के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एवं फिलिस के एक पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं। पुत्र डेविड लन्दन में व्यवसायी है, पुत्री रोझविता लन्दन में अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी में इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे, चिन्तक थे, बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरों के अभिलेखागारों में बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होंने किया। उस सामग्री का संकलन किया, निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय में अनुसन्धान कर के लेख लिखे, भाषण किये, पुस्तकें लिखीं।

उनका यह अध्ययन, चिन्तन, अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा, पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि, जीवन शैली, जीवन कौशल, जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये, भारत को ठीक से समझने के लिये, समृद्ध, सुसंस्कृत भारत को अंग्रेजों ने कैसे तोडा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये, भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्री मीराबहन उनके मित्र एवं मार्गदर्शक हैं। गांधीजी उनकी दृष्टि में अवतार पुरुष हैं। वे अन्तर्बाह्य गांधीभक्त हैं, फिर भी जाग्रत एवं विवेकपूर्ण विश्लेषक एवं आलोचक भी हैं। वे गांधीभक्त होने पर भी गांधीवादियों की आलोचना भी कर सकते हैं।

इस ग्रन्थश्रेणी में प्रकाशित पुस्तकें १९७१ से २००३ तक की समयावधि में लिखी गई हैं। विद्वज्जगत में उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभाव भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अभी वे हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। भारत की अन्यान्य भाषाओं में जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत में बडी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।